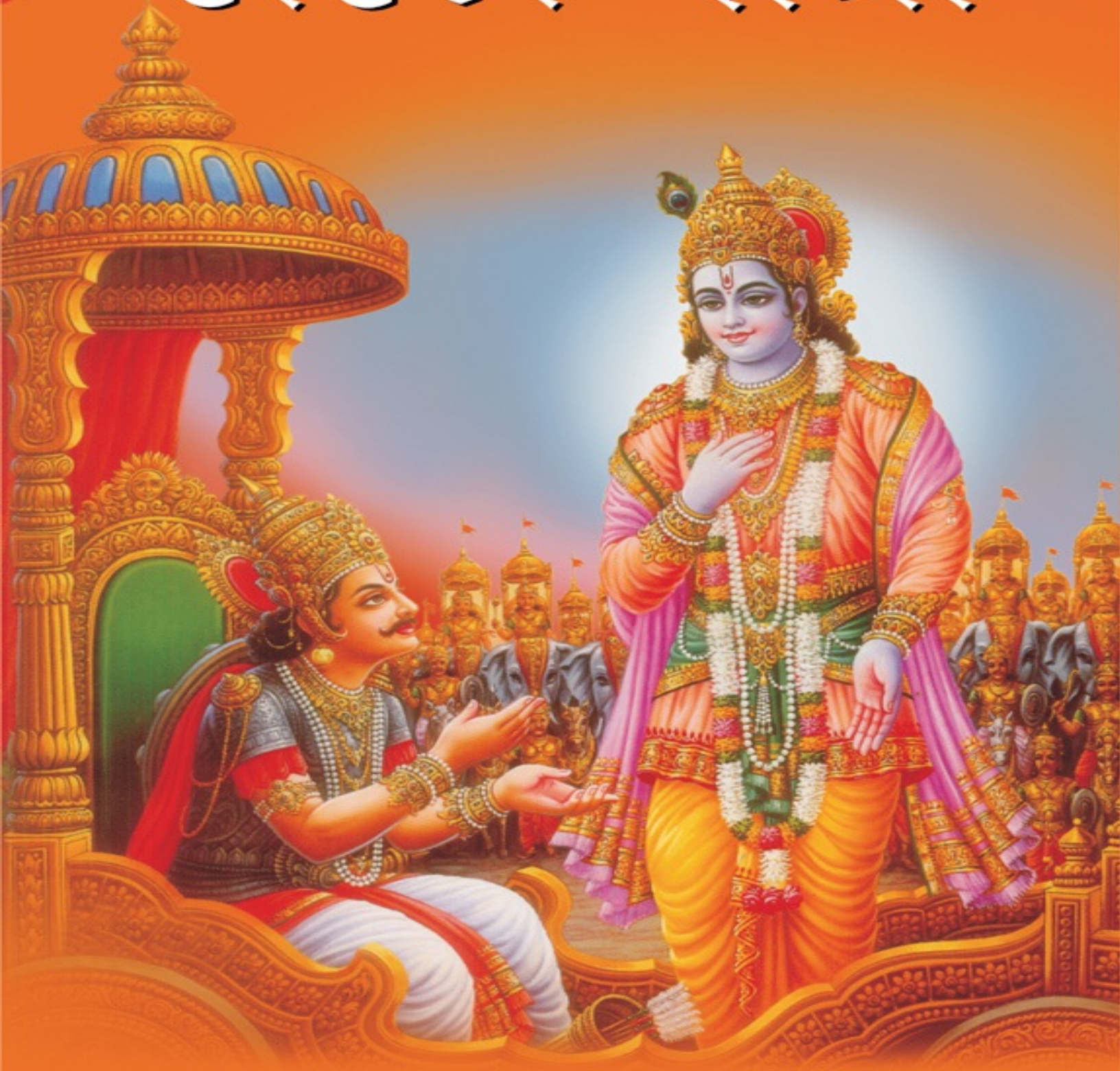


सरल गीता



सरल गीता

महेश शर्मा



प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

ISO 9001:2008 प्रकाशक

गीता-सार

● क्यों व्यर्थ की चिंता करते हो? किससे व्यर्थ डरते हो? कौन तुम्हें मार सकता है? आत्मा न पैदा होती है, न मरती है।

● जो हुआ, वह अच्छा हुआ; जो हो रहा है, वह अच्छा हो रहा है; जो होगा, वह भी अच्छा ही होगा। तुम भूत का पश्चात्ताप न करो। भविष्य की चिंता न करो। वर्तमान चल रहा है।

● तुम्हारा क्या गया, जो तुम रोते हो? तुम क्या लाए थे, जो तुमने खो दिया? तुमने क्या पैदा किया था, जो नाश हो गया? न तुम कुछ लेकर आए; जो लिया, यहीं से लिया। जो दिया, यहीं पर दिया। जो लिया, इसी (भगवान्) से लिया। जो दिया, इसी को दिया। खाली हाथ आए और खाली हाथ चले। जो आज तुम्हारा है, कल किसी और का था, परसों किसी और का होगा। तुम इसे अपना समझकर मग्न हो रहे हो। बस, यही प्रसन्नता तुम्हारे दुखों का कारण है।

● परिवर्तन संसार का नियम है। जिसे तुम मृत्यु समझते हो, वही तो जीवन है। एक क्षण में तुम करोड़ों के स्वामी बन जाते हो, दूसरे ही क्षण में तुम दरिद्र हो जाते हो। मेरा-तेरा, छोटा-बड़ा, अपना-पराया—मन से मिटा दो। फिर सब तुम्हारा है, तुम सबके हो।

● न यह शरीर तुम्हारा है, न तुम शरीर के हो। यह—अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी, आकाश से बना है और इसी में मिल जाएगा। परंतु आत्मा स्थिर है, नाशहीन है, फिर तुम क्या हो?

● तुम अपने आपको भगवान् को अर्पित करो। यही सबसे उत्तम सहारा है। जो इसके सहारे को जानता है वह भय, चिंता, शोक से सर्वदा मुक्त है।

● जो कुछ भी तुम करते हो, उसे भगवान् को अर्पण करते चलो। ऐसा करने से सदा जीवन्मुक्त का आनंद अनुभव करोगे।

— भगवान् श्रीकृष्ण

अपनी बात

‘गीता’ संसार का एक महानतम ग्रंथ है। इसे हिंदू धर्म के सीमित दायरे में बाँधकर नहीं देखा जा सकता, क्योंकि संसार की अनेक प्रमुख भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है और संसार के करोड़ों-अरबों लोग इसमें बताए गए जीवन-दर्शन का अनुसरण कर सुखपूर्वक जीवनयापन कर रहे हैं।

‘गीता’ एक ऐसा ग्रंथ है जो विलक्षण रहस्यों से भरा पड़ा है। इसे आप जितनी बार पढ़ेंगे उतनी ही बार आपको नए-नए अर्थ, नए-नए भाव और नए-नए तर्क निकलते प्रतीत होंगे।

वास्तव में यह ग्रंथ ‘गागर में सागर’ के समान है, जो मनुष्य की अनंत इच्छाओं, कामनाओं, आसक्तियों और चिंताओं को पल भर में शांत कर देता है।

भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद से उपजा यह ग्रंथ द्वापर युग से आज तक अनेक संत-महात्माओं का मार्गदर्शन करता रहा है। अनेक साधारण लोग इसकी शिक्षाओं पर चलकर महान् बने हैं। मीरा, सूर, चैतन्य से लेकर महात्मा गांधी तक भगवद्गीता से जीवन-शक्ति ग्रहण करते रहे हैं। महात्मा गांधी के शब्दों में-

“जब मुझे संदेह आ घेरते हैं; निराशाएँ चेहरे को बेनूर कर देती हैं और आशा की कोई किरण नजर नहीं आती तो मैं ‘गीता’ में इसका हल तलाशता हूँ और फौरन ही मेरे चेहरे पर मुसकान खेलने लगती है, गम के बादल छूट जाते हैं। जो लोग प्रतिदिन गीता पढ़ते हैं, वे आनंद से हमेशा ताजादम रहते हैं और उन्हें इसके रोज नए-नए अर्थ मालूम होते हैं।”

‘गीता’ की सबसे बड़ी सीख है—मनुष्य अकर्ता बनकर अपने सारे जरूरी कर्म अवश्य करे और उनके लिए फल की कामना न करे। स्वयं को कष्ट देकर, शरीर को प्रताड़ित करके तप करने से परमात्मा खुश नहीं होते; वे निष्काम भावना से अपने कर्मों में लगे रहनेवाले मनुष्य से खुश रहते हैं, जो जरूरी कर्म करते हुए सदैव परमात्मा का चिंतन करता रहता है।

इस प्रकार भगवद्गीता मनुष्यमात्र के लिए ज्ञान का भंडार है। इसे पढ़, समझ और पालन कर मनुष्य जीवन-मृत्यु के चक्र से मुक्त होकर मोक्ष पा सकता है—यह स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण की उद्घोषणा है।

इस पुस्तक में गीता के उपदेश को सरल व सुगम शब्दों में प्रस्तुत किया गया है, जिससे कि यह बड़ों के साथ-साथ बच्चों के लिए भी उपयोगी बन सके। इसमें ‘गीता’ के अठारह अध्याय और सात सौ श्लोकों के शब्दार्थ के स्थान पर भावार्थ को प्रमुखता दी गई है, ताकि जनसामान्य भी उनके भावों और शिक्षाओं को सहजता से ग्रहण कर सकें। आशा है, यह ‘सरल गीता’ पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

— महेश शर्मा

अर्जुन विषादयोग

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।

मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध के लिए एकत्रित मेरे और पांडु-पुत्रों ने क्या किया? संपूर्ण ‘गीता’ में धृतराष्ट्र ने केवल यही एक श्लोक कहा है; शेष सभी श्लोक संजय ने कहे हैं। महर्षि वेदव्यास ने संजय को दिव्य दृष्टि प्रदान की थी, जिसके द्वारा वह युद्ध में घटनेवाली सभी घटनाओं को देख-सुन सकता था। धृतराष्ट्र को दुर्योधन की शक्ति पर पूरा विश्वास था, परंतु पांडवों के साथ हुए अन्याय को भी वे जानते थे। युद्ध के परिणाम को लेकर उनके मन में संदेह था। उसी के निवारण के लिए उन्होंने संजय से यह प्रश्न पूछा।

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यू दुर्योधनस्तदा ।

आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

संजय बताने लगे—उस समय कौरवराज दुर्योधन ने पांडवों की सेना को देखा और द्रोणाचार्य के पास जाकर बोला—

इस श्लोक के बाद कुरुक्षेत्र में घटित घटनाओं का वर्णन है। कौरवों की तुलना में पांडवों की सेना कम थी, लेकिन उसे देखकर दुर्योधन का आत्मविश्वास टूट गया और वह विचलित होकर गुरु द्रोणाचार्य के पास गया। यदि पाप और अन्याय की भावना रखते हुए कोई कार्य किया जाए तो सफलता प्राप्त होने के बाद भी मन में अशांति और चिंता रहेगी। सभी अत्याचारी और निरंकुश लोगों की यही स्थिति होती है।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।

व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

हे आचार्य! द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न के नेतृत्व में खड़ी विशाल पांडव-सेना को देखें। यह दुर्योधन की मूर्खता ही थी, जो वह गुरु द्रोणाचार्य को पांडव-सेना के विषय में विस्तार से बताए। इस विषय में आगे वह और भी भययुक्त बातें करता है, जिससे उसका संदेह स्पष्ट झलकता है।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।

युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।

पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गव ॥५॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।

सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

दुर्योधन ने द्रोणाचार्य से कहा—इस सेना में भीम और अर्जुन के समान शूरवीर सात्यकि, विराट, राजा द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, काशिराज, पुरुजित, कुन्तिभोज, शैब्य, युधामन्यु, उत्तमौजा, सुभद्रा-पुत्र अभिमन्यु एवं द्रौपदी के पाँचों पुत्र—प्रतिविंध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक तथा श्रुतसेन आदि शामिल हैं।

द्रोणाचार्य के मन में पांडवों के लिए क्रोध तथा जोश जगाने के लिए दुर्योधन ने यह बात कही थी। परंतु द्रोणाचार्य पांडवों के हितैषी थे और वे उसे उनके साथ संधि करने के लिए कह सकते हैं, यह सोचकर दुर्योधन आगे के तीन श्लोकों में अपनी सेना की विशेषता बताता है।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।

नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥७॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! हमारी सेना में जो वीर हैं, उनके बारे में भी जान लीजिए। अब मैं आपको कौरव-सेना में शामिल महारथियों के नाम बताता हूँ।

कौरव-सेना अनेक शूरवीरों और महारथियों से सुसज्जित थी। परंतु शत्रु-वीरों को देखकर उसके मन में भय उत्पन्न हो गया। वह द्रोणाचार्य के मुख से प्रोत्साहित और वीरतायुक्त शब्द सुनना चाहता था; लेकिन वे शांत रहे। ऐसी स्थिति में भय को दूर करने के लिए दुर्योधन अपनी सेना के प्रमुख योद्धाओं के नाम गिनाने लगा।

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिज्जयः।

अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थं त्यक्तजीविताः।

नानाशत्रुप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

आप, पितामह भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त-पुत्र भूरिश्रवा तथा मेरे लिए प्राण न्योछावर कर देनेवाले युद्ध में निपुण अनेक शूरवीर विभिन्न अत्र-शत्रुओं से सुसज्जित हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।

पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।

भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

भीष्म पितामह के नेतृत्व में कौरव-सेना अजेय है तथा भीम द्वारा रक्षित पांडव-सेना को हराने में पूरी तरह से समर्थ है। इसलिए आप सभी अपने-अपने मोर्चे पर डटे रहकर हर प्रकार से भीष्म पितामह की रक्षा करें।

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।

सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

तब दुर्योधन की खुशी के लिए पितामह भीष्म ने सिंह की दहाड़ के समान तेज स्वर में शंख बजाया।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।

सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

इसके पश्चात् शंख, नगाड़े, ढोल, मृंग तथा नरसिंघे आदि वाद्य-यंत्र तीव्र आवाज करते हुए एक साथ बज उठे।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।

माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खास् प्रदध्मतु ॥१४॥

तदनंतर सफेद घोड़ों से जुते रथ में बैठे श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी अपने-अपने दिव्य शंख बजाए।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।

पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।

नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य, अर्जुन ने देवदत्त, भीमसेन ने पौण्ड्र, राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय, नकुल ने सुघोष तथा सहदेव ने मणिपुष्पक नामक शंख बजाए।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।

धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।

सौभद्रश्च महाबाहु शङ्खान्दध्मु पृथक्त्त पृथक्त्त ॥१८॥

इसके बाद काशिराज, शिखंडी, धृष्टद्युम्न, राजा विराट, सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदी के पाँचों पुत्रों तथा सुभद्रा-पुत्र अभिमन्यु ने भी अपने-अपने शंख बजाए।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।

नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

शंखनाद से उत्पन्न भयंकर शोर ने आकाश-मंडल और पृथ्वी को गुँजाते हुए कौरवों को भयभीत कर दिया।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।

प्रवृत्ते शत्रुसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।

कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।

धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

इसके बाद कौरवों और उनके सहयोगियों को देखकर अर्जुन ने धनुष उठाया और श्रीकृष्ण से कहा—“भगवन्! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले चलिए। मुझे जिनके साथ युद्ध करना है, जब तक मैं उन्हें भलीभाँति देख न लूँ, तब तक इसे वहाँ खड़ा रखिए। मैं दुर्योधन की ओर से युद्ध करने आए राजाओं को देखना चाहता हूँ।”

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।

उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरुनिति ॥२५॥

संजय बोले—हे राजन्! श्रीकृष्ण ने रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर भीष्म तथा द्रोणाचार्य आदि राजाओं के सामने खड़ा कर दिया और अर्जुन से बोले—“हे पार्थ! युद्ध के लिए आए इन कौरवों को देखो।”

तत्रापश्यत्स्थितान्यार्थ पितॄन्तथ पितामहान् ।

आचार्यान्मातुलान्भातॄन्पुत्रान्यौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भमतीव च मे मनः ॥३०॥

अर्जुन ने वहाँ दादा, परदादा, ससुर, मामाओं, गुरुओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, मित्रों सहित समस्त संबंधियों को देखा । वे करुणा से भर उठे और दुखी होकर बोले—“हे कृष्ण! मुझे स्वजन से युद्ध करना पड़ेगा, यह सोचकर मेरा उत्साह ठंडा हो रहा है । मेरा शरीर रोमांचित होकर काँप रहा है; कंपन के कारण हाथों से गांडीव (धनुष) गिर रहा है । मेरा मन भ्रमित हो रहा है, इसलिए मैं इनके सामने खड़े होने में असमर्थ हूँ।”

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

हे केशव! मुझे अच्छे लक्षण नहीं दिखाई दे रहे हैं; स्वजन को मारकर किसी का कल्याण नहीं होगा ।

न काक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

येषामर्थे काक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।

त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

आचार्या पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।

मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥

हे केशव! मुझे न विजय चाहिए, न राजसुख । ऐसे राज्य, भोगों या जीवन से क्या लाभ, जब जिनके लिए हम राज्य, भोग तथा सुख आदि चाहते हैं, वे सभी जीवन की आशा त्यागकर युद्ध में खड़े हों । इनमें गुरुजन, भाई, पुत्र, दादा, परदादा, ससुर आदि सभी शामिल हैं ।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतो किं नु महीकृते ॥३५॥

हे जनार्दन! यदि ये मुझे मार दें या तीनों लोकों का राज्य भी मुझे मिल जाए तो भी मैं इन्हें नहीं मार सकता, फिर भला एक राज्य के लिए मैं इन्हें कैसे मार सकता हूँ?

निहत्य धार्तराष्ट्रान्ः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।

पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

हे मधुसूदन! कौरवों को मारकर क्या हम खुश होंगे? नहीं-नहीं, इन अत्याचारियों को मारकर तो हमें पाप ही लगेगा, बस।

तस्मान्नाहं वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।

स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

इसलिए हे माधव! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारना ठीक नहीं है। अपने परिवार को मारकर हम भला कैसे सुखी रह सकते हैं?

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।

कुलक्षयकृं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।

कुलक्षयकृं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

हे जनार्दन! ये लोग कुल के नाश से पैदा होनेवाले दोषों तथा पापों को नहीं देख पा रहे हैं, परंतु हम इसके बारे में जानते हैं। इसलिए हमें स्वयं ही इस पाप-मार्ग से हट जाना चाहिए।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्मा सनातनाः ।

धर्मो नष्टे कुं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलत्रियः ।

त्रीषु दुष्टासु वाष्ण्यं जायते वर्णसङ्करः ॥४१॥

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

दोषैरेतै कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।

उत्साद्यन्ते जातिधर्मा कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

हे मुरारी! कुल के विनाश से धर्म नष्ट-भष्ट हो जाता है, जिससे संपूर्ण कुल में पाप फैल जाता है। पाप बढ़ने से कुल की त्रियाँ पथ-भष्ट हो जाती हैं। इससे वर्णसंकर संतति उत्पन्न होती है, जिससे सारा कुल नरक भोगता है। इनके पितृ—श्राद्ध एवं तर्पण न होने के कारण अनेक कष्ट भोगते हैं। वर्णसंकर का यह दोष कुल-धर्म और जाति-धर्म को नष्ट कर देता है।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।

नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

हे जनार्दन! हम सदा से सुनते आए हैं कि जिन लोगों का कुल-धर्म नष्ट हो जाता है, वे अनिश्चित समय तक नरक भोगते हैं।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।

यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

कितने दुख की बात है कि इतने बुद्धिमान होकर भी हम ऐसे पाप के लिए तैयार हो गए, जिसमें राज्य-सुख के लिए स्वजन को मारना है।

यदि मामप्रतीकारमशत्रं शत्रुपाणयः ।

धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

पार्थ! यदि मेरे शत्रु-त्याग के बाद कौरव मुझे मार भी डालें तो भी वह मेरे लिए युद्ध से अधिक कल्याणकारी होगा।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।

विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

संजय बोले—यह कहकर अर्जुन ने गांडीव एक ओर रख दिया और रथ के पिछले भाग में जाकर बैठ गए।

॥ अर्जुन-विषादयोग नामक प्रथम अध्याय समाप्त ॥



सांख्ययोग

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।

विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

श्री भगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

संजय बोले—इस प्रकार करुणाग्रस्त अर्जुन को व्याकुल और हताश देखकर श्रीकृष्ण उन्हें समझाते हुए बोले—हे अर्जुन! इस समय तुम किस मोह-ममता में पड़ गए हो? तुम्हारा यह व्यवहार न तो श्रेष्ठ पुरुषों के समान है और न ही इससे तुम्हें यश व कीर्ति मिलेगी।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।

क्षुं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥३॥

इसलिए हे अर्जुन! कायर मत बनो, तुम जैसे वीर को यह शोभा नहीं देता। हे परंतप! मन की दुर्बलता को त्यागकर युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।

इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।

हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्नुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन! युद्ध में मेरा धनुष किस प्रकार भीष्म पितामह और गुरु द्रोणाचार्य के विरुद्ध उठेगा? क्योंकि वे दोनों ही मेरे लिए पूजनीय हैं। इसलिए हे अरिसूदन! उन्हें मारने की अपेक्षा मैं भिक्षा माँगकर जीवन-यापन करना अधिक उचित समझता हूँ। क्योंकि गुरुजन को मारकर जिन भोगों को मैं भोगूँगा, वे उनके रक्त से सने होंगे।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।

यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

हे कृष्ण! हमें यह भी नहीं पता कि युद्ध करने या न करने में श्रेष्ठ कौन है? युद्ध में हम जीतेंगे भी या नहीं, यह भी हम कुछ नहीं जानते। और हमारे विपक्ष में वे कौरव खड़े हैं, जिन्हें मारकर हम भी जीवित नहीं रहना चाहते।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।

अवाप्य भूमावसपत्नम् राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

इसलिए हे कृष्ण! मेरा मन कायरता और मोह से भर गया है। अब आप ही मेरा मार्गदर्शन कीजिए। मैं आपका शिष्य हूँ, कृपया आप मुझे उचित शिक्षा दीजिए। क्योंकि धनी-संपन्न राज्य तथा देव-पद पाने के बाद भी अपने दुख दूर करने का उपाय मुझे नहीं मालूम।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।

न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

संजय बोले—हे राजन्! इस प्रकार विचलित अर्जुन ने श्रीकृष्ण को अपने मनोभाव स्पष्ट बताए और ‘युद्ध नहीं करूँगा’, यह कहकर चुप हो गए।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

श्री भगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।

गतासूनगतासूँश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

श्री भगवान् बोले—हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! दोनों सेनाओं के बीच अर्जुन को दुखी देखकर श्रीकृष्ण हँसते हुए बोले—हे अर्जुन! तुम ऐसे व्यक्तियों के लिए दुखी हो रहे हो, जो इसके योग्य नहीं हैं। तुम पंडितों और ज्ञानियों की तरह बोल रहे हो, परंतु वे भी न तो मृतकों के लिए शोक करते हैं और न ही जीवितों के लिए।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

हे पार्थ! ऐसा नहीं है कि मैं, तुम या ये सब किसी काल में नहीं थे, और ऐसा भी नहीं है कि इससे आगे ये या हम सब नहीं होंगे। जीवात्मा इस शरीर में बाल्यावस्था, यौवन और वृद्धावस्था भोगने के बाद दूसरा शरीर धारण करती है। यह जाननेवाला व्यक्ति कभी मोहित नहीं होता।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

हे कौन्तेय! सर्दी-गरमी और सुख-दुख का अनुभव करानेवाली इंद्रियाँ तथा विषय और आसक्ति—विनाशशील एवं अनिश्चित हैं। इसलिए हे भारत! तुम उनके प्रति सहनशील बनो। क्योंकि जो व्यक्ति सुख और दुख को एक समान समझता है, उसे मोह-माया के बंधन व्याकुल नहीं करते; वह मोक्ष का अधिकारी होता है। जिस प्रकार असत्य वस्तु—अर्थात् शरीर—अस्तित्वहीन होता है, जबकि सत्य वस्तु—अर्थात् आत्मा—सत्य और शाश्वत होता है। और असल ज्ञानी पुरुष इन दोनों तत्त्वों को भली-भाँति जानते हैं।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

जिससे यह सारा विश्व बना है, तुम केवल उसी को अविनाशी समझो। उसका विनाश कोई नहीं कर सकता। उस नाशरहित, प्रमाण से परे, निरंतर रहनेवाले जीवात्मा द्वारा पैदा सभी प्राणी नाशवान् हैं। इसलिए हे भरतवंशी अर्जुन! तुम युद्ध करो, क्योंकि तुम इन्हें मारो अथवा नहीं, लेकिन इनका अंत तो वैसे भी सुनिश्चित है।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

जो लोग इस अविनाशी आत्मा को मारनेवाला या मरा हुआ समझते हैं, वे सभी इसकी सच्चाई नहीं जानते। वास्तव में आत्मा न तो किसी को मारता है और न ही कोई इसे मार सकता है। अर्थात् आत्मा अजर-अमर है और यह शरीर तो अंत होने के लिए ही जनमा है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

आत्मा शाश्वत है। यह किसी भी काल में न तो जन्म लेता है, न ही इसकी मृत्यु होती है। शरीर बारंबार जीता और मरता है, किंतु यह आत्मा ईश्वर का ही अंश है, जो अजन्मा, नित्य, सनातन और अनादि है; जो शरीर के नष्ट हो जाने पर भी जीवित रहता है।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।

कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

इसलिए हे पार्थ! जो व्यक्ति यह समझता है कि आत्मा अविनाशी, अजन्मा और सनातन है, वह यह भी जानता है कि उसे कभी नहीं मारा जा सकता।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

मनुष्य को नित्य नई वस्तुओं का शौक होता है। बूढ़ा होने पर वह शरीर भी नया चाहने लगता है। इसलिए ईश्वर उसे नया शरीर देते हैं। यही कारण है कि यह जीवात्मा पुराने शरीर को त्यागकर नया शरीर धारण करता है—ठीक उसी प्रकार जैसे हम पुराने वस्त्रों को त्यागकर नए वस्त्र धारण कर लेते हैं और ऐसा करके हमें कोई शोक नहीं होता।

नैनं छिन्दन्ति शत्राणि नैनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमकेद्योऽशोष्य एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

हे अर्जुन! शत्रु इस आत्मा को काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, जल गला नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकता। क्योंकि यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर स्वभाव और सनातन है। यह निर्गुण तत्त्व है। इसी से पृथ्वी के सगुण तत्त्व शक्ति पाते हैं। फिर ये उसे विकृत कैसे कर सकते हैं?

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

जीवात्मा—अव्यक्त, चिंतन से परे और विकार-रहित है। इसलिए हे अर्जुन! आत्मा की वास्तविकता जानने के बाद इसके लिए शोक करना अनुचित है।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।

तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥२६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥२७॥

किंतु हे महाबाहो! यदि इस जीवात्मा को तुम नित्य जनमनेवाला तथा नित्य मरनेवाला समझते हो तो भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए। क्योंकि इस नियम के अनुसार भी जो जनमा है उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मरेगा उसका पुनर्जन्म निश्चित है। यह अटल नियम है। फिर शोक किसलिए?

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥२८॥

हे भरतवंशी अर्जुन! जन्म से पहले सभी जीव हमारी दृष्टि से अदृश्य होते हैं, मृत्यु के बाद भी वे अदृश्य हो जाते हैं। केवल जन्म के बाद और मृत्यु के पहले के हिस्से में ही वे हमें दिखाई देते हैं; जबकि वास्तव में वे प्रतिक्षण अदृश्य होने की ओर बढ़ते रहते हैं। ऐसी दशा में उनके लिए शोक करना व्यर्थ है। अर्थात् यह शरीर निश्चित ही अंत के लिए प्रकटा है, अतः इस अनिरंतर वस्तु के प्रति मोह अनुचित है।

आश्चर्यवत्पश्याति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्भदति तथैव चान्यः।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥२९॥

जीवात्मा अगम, अगोचर और विलक्षण वस्तु है। इसे बुद्धि, मन या वाणी से नहीं जाना जा सकता। तभी कुछ व्यक्ति इसे आश्चर्य की तरह अनुभव करते हैं, कुछ आश्चर्य की तरह वर्णन करते हैं और कुछ सुनकर भी नहीं समझ पाते।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।

तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥३०॥

हे अर्जुन! यह आत्मा सबके शरीर में रहती है और कभी इसका वध नहीं किया जा सकता। इसलिए किसी भी प्राणी के लिए तुम शोक मत करो। अर्थात् तुम्हारा शोक आधारहीन है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यक्षत्रियस्य न विद्यते॥३१॥

वैसे भी किसी क्षत्रिय के लिए धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है। अतः अपने धर्म के अनुरूप भी तुम्हें अपने कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं होना चाहिए।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।

सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥३२॥

हे पार्थ! केवल भाग्यवान् क्षत्रिय को ही ऐसे धर्मयुद्ध का सौभाग्य मिलता है और जो इस युद्ध को करते हैं, तो उनके लिए स्वर्ग के द्वार अपने आप खुल जाते हैं।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्य संग्रामं न करिष्यसि ।

ततः स्वधर्म कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।

सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।

येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।

निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुखतरं नु किम् ॥३६॥

परंतु यदि तुम इस धर्म-युद्ध से अलग हो जाओगे तो धर्म और कीर्ति-रहित होकर पाप के भागी बनोगे। लोग तुम्हारी इस कायरता की युगों-युगों तक निंदा करेंगे और सम्माननीय पुरुष के लिए अपयश मृत्यु से भी बढ़कर है। जिनकी दृष्टि में तुम सम्मानित हो, वे तुम्हें कायर तथा भयभीत होकर युद्ध से भाग जानेवाला कहेंगे। इससे अधिक दुख की बात और क्या होगी कि लोग तुम्हारे बल की निंदा करते हुए तुम्हारी बुराई करेंगे।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

हे कुंतीनंदन! यदि तुम युद्ध में मारे भी गए तो तुम्हें स्वर्ग प्राप्त होगा और अगर विजयी हुए तो पृथ्वी का राज्य भोगोगे। इसलिए युद्ध के लिए तत्पर हो जाओ।

भाव यह है कि धर्म का पालन हर परिस्थिति में करना होगा और जो व्यक्ति धर्म का पालन करता है, उसके लोक-परलोक दोनों सुधर जाते हैं।

सुखदुखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।

ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

हे अर्जुन! तुम्हारा कर्तव्य केवल कर्म करना है। इसलिए हानि-लाभ, हार-जीत और दुख-सुख को एक समान समझो। फिर युद्ध-कर्म करने पर भी तुम पाप-पुण्य से दूर रहोगे।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।

बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

हे पार्थ! ये बातें ज्ञानयोग के बारे में बताई गई हैं। अब कर्मयोग के बारे में सुनो, जिसे अपनाकर तुम कर्मों के

बंधन त्याग सकते हो।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥४०॥

इस कर्मयोग में बीज (आरंभ) का नाश नहीं होता और न ही इसमें प्रतिकूल फल का भय है; बल्कि इसमें धर्म का थोड़ा सा भी ज्ञान हमें जीवन-मृत्यु के भय से मुक्त कर देता है।

अर्थात् यदि हम में जन्म-मृत्यु, यश-अपयश, हानि-लाभ आदि को एक समान दृष्टि से देखने के भाव पैदा हो जाएँ तो फिर हम सभी भयों से मुक्त हो जाते हैं।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥४१॥

हे अर्जुन! कर्मयोग में निर्णय करनेवाली बुद्धि एक ही होती है। परंतु जो व्यक्ति विवेकहीन होते हैं, उनकी बुद्धि अस्थिर और अनेक उद्देश्योंवाली होती है।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥४२॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥४४॥

हे अर्जुन! जो विषय-भोगों में डूबे रहते हैं; जो वेदों के अनुसार केवल फल पाने के लिए कर्म करने (सकाम कर्म) में विश्वास रखते हैं; जो स्वर्ग को ही श्रेष्ठ मानते हैं—वे विवेकहीन लोग मीठा बोलकर केवल भोग-ऐश्वर्य का वर्णन करते हैं। ऐसे व्यक्तियों तथा उनकी बातों से भोगों की ओर आकर्षित होनेवालों की बुद्धि परमात्मा को नहीं जानती।

त्रैगुण्यविषया वेदा नित्रैगुण्यो भवार्जुन।

निर्द्वंद्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥४५॥

पार्थ! वेद—केवल भोगों तथा उसके साधनों का वर्णन करनेवाले हैं। इसलिए तुम भोग, ऐश्वर्य, मद, मोह, हर्ष, शोक, द्वंद्व, योग (प्राप्त न होनेवाली वस्तु की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त वस्तु की रक्षा) आदि से अलग होकर परमात्मा का ध्यान करो।

इस पद में वेदों के उस अंश की चर्चा की गई है, जिसमें भोगादि का वर्णन है। यह वर्णन अर्जुन में निष्काम भाव

के उत्थान के लिए आया है, वेदों की निंदा के लिए नहीं।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।

तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

जिस प्रकार बड़ा मिलने के बाद मनुष्य को छोटे जलाशय की कोई जरूरत नहीं होती, उसी प्रकार ब्रह्मतत्त्व को जाननेवाले ब्राह्मण के लिए वेदों का कोई औचित्य नहीं रह जाता।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोस्त्वकर्मणि ॥४७॥

तुम्हारा अधिकार केवल कर्म पर है, उसके फल पर नहीं। इसलिए तुम न तो कर्म-फल की इच्छा करो और न ही कर्म करने से पीछे हटो।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गत्यक्त्वा धनञ्जय ।

सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

हे धनंजय! तुम मोह-ममता का परित्याग करके सिद्धि-असिद्धि, लाभ-हानि को समान दृष्टि से देखते हुए केवल अपने कर्म पर ध्यान दो, क्योंकि निष्काम कर्म ही समदृष्टि उत्पन्न करता है, वही योग कहलाता है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

हे धनंजय! सकाम कर्म की अपेक्षा समदृष्टि अधिक श्रेष्ठ है। इसलिए तुम बुद्धि से तर्क-वितर्क करके फल की इच्छा के विषय में मत सोचो।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

बुद्धिवान् व्यक्ति पाप और पुण्य दोनों को त्याग देता है। अतः तुम भी सम बुद्धिवान् बनो; क्योंकि कर्मों के बंधन से छूटने का एकमात्र उपाय यही है। स्मरण रखो, समबुद्धि मनुष्य कर्मफल को त्यागकर जीवन-मृत्यु के बंधन से मुक्त हो जाते हैं और उन्हें निर्विकार पद प्राप्त होता है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

हे अर्जुन! जैसे ही तुम्हारी बुद्धि मोह रूपी दलदल से मुक्त होगी, उसी समय तुम सांसारिक भोगों को त्याग करके वैराग्य प्राप्त कर लोगे।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।

समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

विभिन्न बातों को सोचकर मोहवश विचलित हुई तुम्हारी बुद्धि जब स्थिर होकर परमात्मा में लीन हो जाएगी, उसी के साथ तुम्हें योग प्राप्त हो जाएगा-अर्थात् तुम्हारा ईश्वर से शाश्वत संबंध हो जाएगा।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।

स्थितधी किं प्रभाषेत किमासीत ब्रजेत किम् ॥५४॥

अर्जुन ने पूछा—हे केशव! ईश्वर में लीन अचल बुद्धिवाले व्यक्ति की क्या विशेषताएँ होती हैं? उसकी चाल-ढाल, व्यवहार-वाणी आदि कैसे होते हैं?

श्री भगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्यार्थ मनोगतान् ।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

श्री भगवान् बोले—हे पृथानंदन! जिस समय व्यक्ति सभी कामनाओं, इच्छाओं, भोगों आदि को त्यागकर स्वयं में संतुष्ट हो जाता है, उस समय उसे स्थिर-बुद्धि कहा जाता है।

दुखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

दुख के समय जो व्यक्ति दुखी नहीं होता तथा सुख में भी सदा निर्लिप्त बना रहता है; जिसे राग-द्वेष, ईर्ष्या-क्रोध इत्यादि विकार छू भी नहीं जाते, उसी मननशील कर्मयोगी व्यक्ति को स्थिर-बुद्धि या स्थिति-प्रज्ञ कहते हैं।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

हर स्थिति में मोह-माया से दूर जो व्यक्ति शुभ या अशुभ वस्तु पाने पर न तो प्रसन्न होता है, न दुखी, वह स्थिर-बुद्धिवाला होता है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

जैसे कछुवा स्वयं को अपने खोल में बंद कर लेता है, उसी प्रकार जब मनुष्य अपनी इंद्रियों को विषयों से हटाकर आत्म-नियंत्रित कर लेता है, उस समय उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

कई बार इंद्रियों को नियंत्रित करने के बाद भी कुछ मनुष्य आसक्ति को नहीं त्याग पाते। परंतु परमतत्त्व परमेश्वर का अनुभव होने पर स्थिर बुद्धिवाले मनुष्य का मोह अपने आप ही नष्ट हो जाता है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

हे कुंतीनंदन! आसक्ति के कारण अनेक प्रयत्न करने के बाद भी विद्वान् व्यक्ति का मन कभी-कभी इंद्रियों के अधीन हो जाता है। इसलिए साधक को सभी इंद्रियों को वश में करके मेरा ध्यान करना चाहिए। क्योंकि जिनकी इंद्रियाँ उनके वश में होती हैं, उनकी बुद्धि अपने आप स्थिर हो जाती है।

ध्यायतो विषयान्मुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।

सङ्गात्संजायते कामः कामाक्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

विषयों का ध्यान करने से मनुष्य उन विषयों के प्रति मोहग्रस्त हो जाता है। यही मोह मन में कामना पैदा करता है। इस कामना की पूर्ति न होने से क्रोध, क्रोध से मूर्खता और मूर्खता से बुद्धि भ्रष्ट होती है। बुद्धि भ्रष्ट होने से विवेक नष्ट हो जाता है। विवेक का नाश ही मनुष्य के पतन का कारण बनता है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

प्रसादे सर्वदुखानां हानिरस्योपजायते ।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

परंतु कर्मयोगी साधक आत्म-नियंत्रित इंद्रियों द्वारा विषयों का भोग करते हुए भी निर्मल बना रहता है। उस निर्मलता से उसके संपूर्ण दुख और कष्ट समाप्त हो जाते हैं। इससे उसका मन शीतल हो जाता है और उसकी बुद्धि शीघ्र ही ईश्वर में स्थिर हो जाती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

जिस व्यक्ति का अपने मन एवं इंद्रियों पर नियंत्रण नहीं होता, उसकी बुद्धि अस्थिर या चलायमान होती है। ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति में कर्तव्यनिष्ठा का अभाव होता है। कर्तव्यनिष्ठा न होने से मन अशांत रहता है और अशांत व्यक्ति सुख से दूर रहता है।

इंद्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

जिस प्रकार जल में चलती नाव को वायु उड़ा ले जाती है, उसी प्रकार मन को प्रभावित करनेवाली एक इंद्रिय भी मनुष्य को विवेकहीन बना देती है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।

इंद्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

इसलिए हे महाबाहो! जिस मनुष्य ने अपनी इंद्रियों को उसके विषयों से पूरी तरह नियंत्रित कर लिया है, केवल वही मनुष्य स्थिर बुद्धि वाला है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने ॥६९॥

जिन प्राणियों के लिए ईश्वर को पाना रात (ईश्वर से दूरी) के समान है, उस रात में केवल योगी पुरुष ही जागते हैं। और जिन नाशवान् वस्तुओं के संग्रह में प्राणी जागते (विषय-भोगों में लिप्तता) रहते हैं, वह कर्मयोगी के लिए रात के समान है।

अर्थात् विषय-भोगों में आसक्त लोग परमात्मा की तरफ से सोए रहते हैं। उनके लिए सब ओर रात होती है, जबकि जो संत लोग इंद्रियों को वश में करके परमात्मा को भजते हैं उनका उद्देश्य ईश्वर को पाना है। वे हमेशा सावधान रहते हैं। यह उनका जागना है। और जिन सांसारिक सुखों को पाकर लोग स्वयं को बड़ा चतुर और धन्य समझते हैं, परमेश्वर की भक्ति में लगे मनुष्य के लिए यह सब रात के समान है, जिससे वे सदा बचते हैं।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

विहाय कामान्यः सर्वान्मुमांश्चरति निःस्पृहः ।

निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

जिस प्रकार विभिन्न नदियों के जल को आश्रय देकर भी समुद्र सीमाएँ नहीं तोड़ता, उसी प्रकार विभिन्न भोगों को भोगकर भी संयमी मनुष्य में विकार उत्पन्न नहीं होता। भोगों की इच्छा रखनेवाले की अपेक्षा ऐसा विकार-रहित

संयमी मनुष्य ही परम शांति पाता है। जो व्यक्ति अपनी सभी इच्छाओं को नियंत्रित करके अहंकार, ममता और लोभ की भावनाओं से मुक्ति पा लेता है, वही मन की शांति पाता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।

स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

हे अर्जुन! यह मनुष्य की परम स्थिति होती है। ऐसा मनुष्य कभी मोह-आसक्ति में नहीं पड़ता और मृत्यु के बाद उसे ईश्वर के निकट परम पद मिलता है।

॥ सांख्ययोग नामक दूसरा अध्याय समाप्त ॥



कर्मयोग

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।

तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।

तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

अर्जुन बोले—हे केशव! यदि कर्म से ज्ञान अधिक श्रेष्ठ है तो फिर आप मुझे युद्ध के इस क्रूर कर्म की ओर क्यों धकेल रहे हैं? आप अपनी उलझी हुई बातों से मेरी बुद्धि भ्रमित कर रहे हैं। इसलिए कृपया केवल एक ही बात करें, जिसमें मेरा कल्याण निहित हो।

श्री भगवानुवाच

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

न कर्मणामनारम्भान्नेष्कर्म्यं पुरुषोऽश्रुते ।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

श्री भगवान् बोले—हे निष्पाप अर्जुन! मैंने दो प्रकार की निष्ठा का उल्लेख किया है। उनमें ज्ञानीजन की निष्ठा ज्ञानयोग से होती है तथा योगियों की कर्मयोग से। साथ ही, मनुष्य न तो कर्म किए बिना निष्कर्म हो सकता है और न ही कर्मों का त्याग करके किसी प्रकार की सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

अर्थात् निष्काम भाव से कर्म करने पर ही कर्म के प्रति लिप्तता नष्ट होती है।

न हि कश्चिदक्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वं प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

यह भी सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति हर समय किसी-न-किसी कर्म में लगा रहता है, क्योंकि प्रकृति इसके लिए उन्हें बलपूर्वक प्रेरित करती है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।

इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

जो व्यक्ति इंद्रियों को तो बलपूर्वक दबाकर भौतिक रूप से उन्हें रोक लेता है, लेकिन मन-ही-मन सदैव विषय-भोगों का चिंतन करता रहता है, वह मूर्ख, दंभी और बनावटी व्यक्ति होता है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।

कर्मैन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

परंतु हे अर्जुन! जो व्यक्ति मन, वचन और कर्म से अपनी इंद्रियों पर नियंत्रण करके, मोह की भावना को त्यागकर केवल कर्मयोग के मार्ग पर चलता है, वही विशिष्ट व्यक्ति कहलाता है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

इसलिए तुम शास्त्रों द्वारा निर्धारित कर्म करो, क्योंकि कर्म करने से ही शरीर-संचालन संभव है। अतः तुम्हारे लिए कर्म न करने की तुलना में केवल उसे करना ही अधिक उचित है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

यदि मनुष्य अपने कर्तव्य-पालन के प्रति सावधान रहे तो अन्य सांसारिक कर्म उसे आसक्त नहीं कर सकते हैं। इसलिए हे अर्जुन! तुम भी मोह-रहित होकर केवल प्रकृति द्वारा नियत कर्म पर ही अपना ध्यान केंद्रित करो।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

सृष्टि के आरंभ में ब्रह्माजी ने मनुष्यों की उत्पत्ति करके उन्हें कर्तव्य-पालन के प्रति सावधान करते हुए कहा था कि इसी से उनकी उन्नति और जीवनयापन होगा। उन्होंने देवताओं को भी कर्तव्य-पालन का दायित्व सौंपा और कहा कि कर्म करके ही मनुष्य और देवगण एक-दूसरे की उन्नति करते हुए परमात्मा के लोक में परम स्थान प्राप्त कर सकते हैं।

(विशेष : यहाँ कर्तव्य-पालन को यज्ञ कहा गया है।)

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

निष्काम भाव से कर्म करने पर तुम्हारे कर्म-यज्ञ से पुष्ट-संतुष्ट देवता बिना माँगे ही तुम्हारी अभिलाषाएँ पूर्ण करते

हैं। देवताओं से प्राप्त उन भोगों को जो व्यक्ति दूसरों की सेवा में लगाए बिना स्वयं ही भोगता है, वह चोर कहलाता है। अर्थात् उनका सेवन मिल-बाँटकर करना चाहिए।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

परहित के लिए कर्म करनेवाले लोग सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं, जबकि केवल स्वयं के स्वार्थ के लिए ही कर्म करनेवाले मनुष्य घोर पाप के भागी बनते हैं।

अर्थात् निष्काम कर्म के बाद सम-दृष्टि या योग ही यज्ञ-शेष के रूप में बचता है, जो मनुष्य को सभी बंधनों से मुक्त कर देता है।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।

तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

सभी प्राणियों की उत्पत्ति अन्न से होती है; अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है; वर्षा यज्ञ करने से होती है और यज्ञ कर्तव्य-पालन से संपन्न होता है। कर्तव्य अथवा कर्म की उत्पत्ति वेदों से हुई है और वेद शाश्वत ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं। इसलिए परमात्मा यज्ञ अथवा कर्तव्य-कर्म में सदा वास करते हैं।

अर्थात् परमात्मा और कर्म एक ही हैं। हम इनसे विमुख नहीं हो सकते।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

हे पार्थ! जो मनुष्य इस सृष्टि-चक्र की परंपरा के अनुसार चलते हुए अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता, वह विषय-भोगों में डूबकर जीवन बेकार गँवा देता है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।

आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

लेकिन जो व्यक्ति आत्मलीन, आत्मतृप्त और आत्मसंतुष्ट होता है, उसके लिए कर्म भी स्वयं के लिए नहीं होता; क्योंकि उसका इस संसार से कोई नाता नहीं होता, वह केवल कर्म के लिए ही कर्म करता है। वह सांसारिक राग-द्वेष, हर्ष-शोक, स्वार्थ-परमार्थ आदि की भावनाओं से बिलकुल अलग होता है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

इसलिए तुम मोह त्यागकर केवल अपने कर्म का पालन करो, क्योंकि मोह-रहित कर्म में लगा रहनेवाला व्यक्ति परब्रह्म में लीन हो जाता है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

राजा जनक जैसे अनेक ज्ञानीजन ने भी कर्मयोग से ही ईश्वर के परम धाम में स्थान प्राप्त किया। इसलिए हे अर्जुन! लोक-परंपराओं के अनुसार तुम्हारे लिए भी केवल कर्म करना ही उचित है। अर्थात् कर्म करना सभी का कर्तव्य है, उसी से मुक्ति संभव है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

अधिकांश व्यक्ति महापुरुषों के आचरण का अनुसरण करते हैं। महापुरुष जो मान्यताएँ स्थापित करते हैं, समाज उसी के अनुसार व्यवहार करने लगता है। अतः लोगों को अपना आचरण अनुकरणीय बनाना चाहिए।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।

नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

कर्तव्य का महत्त्व बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—हे पार्थ! इन तीनों लोकों में कर्तव्य-पालन के लिए मेरे पास कुछ नहीं है और न ही मेरे लिए कोई वस्तु दुर्लभ है। फिर भी मैं लगातार कर्तव्य-कर्म में लगा रहता हूँ।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतद्रितः ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्या कर्म चेदहम् ।

संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

क्योंकि हे पार्थ! यदि कभी मैं अपने कर्तव्य से डिग गया तो संभवतः घोर अनर्थ हो सकता है, क्योंकि सभी मनुष्य सर्वथा मेरे ही पदचिह्नों का अनुसरण करते हैं। और यदि कर्ता ही कर्म न करें तो निश्चित ही मनुष्य और प्रकृति के क्रियाकलाप बाधित हो जाएँगे; और फिर कर्ता अर्थात् मुझे संकर (दोगला) कहा जाएगा और मेरी कर्तव्य-विमुखता से प्रजा भी कर्म के प्रति भ्रष्ट होकर नष्ट हो सकती है। अतः मैं निरंतर कर्मशील रहता हूँ।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।

कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गनाम् ।

जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

हे भरतवंशी! सांसारिक कर्मों की आसक्ति में डूबे विवेकहीन मनुष्य जिस प्रकार कर्तव्य-पालन करते हैं, आसक्ति-विहीन ज्ञानी पुरुष को भी उसी प्रकार अनुकरणीय मान्यताएँ स्थापित करते हुए कर्म करना चाहिए। उसे सांसारिक कर्मों में डूबे लोगों के मन में कर्म के प्रति अनास्था का भाव नहीं भरना चाहिए, वरन् अपने अनुकरणीय कर्मों से उन्हें भी वैसा ही आचरण करने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

प्रकृते क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

वास्तव में संसार के सभी कर्म स्वाभाविक गुणों द्वारा सहज ढंग से संपन्न होते हैं; लेकिन मोहग्रस्त, अहंकारी व्यक्ति स्वयं को ही उस कर्म का कर्ता मान बैठता है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयो ।

गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

परन्तु हे महाबाहो! शरीर, इंद्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राणी, पदार्थ—ये सभी गुणमय हैं। इन्हें ‘गुण-विभाग’ कहते हैं और इनसे जो क्रिया होती है, उसे ‘कर्म-विभाग’ कहते हैं। जो विवेकी व्यक्ति होते हैं, वे समझते हैं कि पदार्थ एवं क्रियाएँ उत्पन्न और नष्ट होने वाली हैं। अतः वे गुण-विभाग और कर्म-विभाग की वास्तविकता से भली-भाँति परिचित होते हैं और उनमें आसक्त नहीं होते, बल्कि उनसे दूर रहते हैं।

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।

तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

अज्ञानीजन प्रकृति से मिले गुणों—सत्त्व, रज और तम—से बुरी तरह आसक्त होकर केवल इन्हीं से जुड़े कर्मों में लगे रहते हैं। ऐसा होने पर भी ज्ञानीजन को उन आसक्त लोगों को उनके कर्मों से नहीं रोकना चाहिए। इसलिए कि इससे कहीं वे अपनी उस स्थिति से भी नीचे न गिर जाएँ।

अर्थात् भगवान् कहते हैं कि शुभ फल की कामना में मनुष्य अनेक प्रकार के सांसारिक कर्म करता है, उन्हें उससे रोकना न जाए वरन् कर्म करने दिया जाए।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।

निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

इसलिए तुम विवेक-बुद्धि से काम लेते हुए अपने सभी कर्तव्य-कर्मों को मेरे ऊपर छोड़कर मोह, ममता और शोकरहित होकर युद्ध करो। यही तुम्हारा अभीष्ट कर्तव्य है।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।

श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।

सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

जो व्यक्ति सच्चे मन से आस्थापूर्वक मेरे इस (उपर्युक्त) कथन का पालन करते हैं, वे सभी प्रकार के कर्म-बंधन से छूट जाते हैं। लेकिन जो व्यक्ति मेरे कथन पर संदेह करते हैं अथवा उसमें दोष ढूँढ़ते हैं, उसका पालन नहीं करते, वे अज्ञानीजन सांसारिक मोह-माया में फँसकर नष्ट-भष्ट हो जाते हैं।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

सभी प्राणी अपने प्राकृतिक स्वभाव के अनुसार कर्म करते हैं। विद्वान् व्यक्ति भी अपने स्वभाव के अनुसार क्रियाकलाप करते हैं। बलपूर्वक इन कर्म-क्रियाओं में परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

अर्जुन बलपूर्वक युद्ध रूपी कर्म से विमुख होना चाहते हैं, लेकिन भगवान् उन्हें कहते हैं कि वे एक क्षत्रिय हैं, जिसका स्वाभाविक धर्म ही युद्ध करना है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।

तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

नेत्र, जीभ, कान, त्वचा और नाक—ये पाँच इंद्रियाँ हैं और रूप, रस, शब्द, स्पर्श एवं गंध इनके विषय हैं। मनुष्य स्थिति के अनुसार कभी इनमें डूबा होता है, कभी इनसे घृणा करता है।

भगवान् कहते हैं कि मनुष्य को इनकी आसक्ति से सदैव दूर रहना चाहिए, क्योंकि इनसे व्यक्ति का कल्याण-मार्ग बाधित होता है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

हे पार्थ! दूसरों का धर्म चाहे कितना भी श्रेष्ठ और गुणधर्मों से युक्त क्यों न हो, लेकिन व्यक्ति को अपना गुणहीन धर्म भी कभी नहीं छोड़ना चाहिए। स्वधर्म-पालन में मृत्यु भी आ जाए तो वह मोक्षदायक होती है। अर्थात् व्यक्ति को निष्काम भाव से अपने धर्म अथवा कर्तव्य-कर्म का पालन करना चाहिए।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।

अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! पाप का दुष्परिणाम जानते हुए भी मनुष्य ऐसा करने लगता है, मानो कोई उसे बलपूर्वक उसके लिए प्रेरित कर रहा है। इस प्रकार पापाचरण मनुष्य क्यों करता है?

श्री भगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

श्री भगवान् बोले—रजोगुण से पैदा होनेवाले काम और क्रोध ही पाप के मूल कारण हैं। हे अर्जुन! ये ही मनुष्य को पाप में डूबे रहने की प्रेरणा देते हैं। अतः ये मनुष्य के सबसे बड़े शत्रु हैं।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।

यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

जिस प्रकार मैल से दर्पण, धुएँ से अग्नि तथा जेर (झिल्ली) से गर्भ ढँका रहता है, उसी प्रकार काम द्वारा मनुष्य की विवेक-बुद्धि ढँकी रहती है-अर्थात् काम मनुष्य के विवेक को नष्ट कर देता है।

आवृं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।

कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

हे कौन्तेय! काम सदा से विवेकी मनुष्य का शत्रु रहा है। जैसे अग्नि में घी की आहुतियाँ देते रहने से भी वह तृप्त नहीं होती, वैसे ही भोगों की आहुतियों से काम-ज्वाला और भड़कती रहती है। इस प्रकार इस काम शत्रु से मनुष्य का विवेक भमित रहता है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इंद्रियाँ, मन और बुद्धि—ये तीनों काम के निवास-स्थान कहे गए हैं। काम इन तीनों के माध्यम से विवेक को भमित करके मनुष्य को पथभ्रष्ट करता है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इसलिए हे भरतवंशी श्रेष्ठ अर्जुन! पहले तुम इंद्रियों को अपने वश में करके ज्ञान और विज्ञान को नष्ट कर देनेवाले इस महापापी काम को मन से निकाल फेंको। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य यदि अपनी कामनाओं का त्याग कर दे तो उसके सभी मोहों और आसक्तियों का स्वतः नाश हो जाएगा।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धे परतस्तु सः ॥४२॥

एवं बुद्धे परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इंद्रियाँ विषयों के बारे में जानती हैं, अतः वे उनसे श्रेष्ठ हैं; मन इंद्रियों से श्रेष्ठ है, क्योंकि वह सभी इंद्रियों को जानता है; बुद्धि मन को जानती है, इसलिए वह उससे श्रेष्ठ है; लेकिन आत्मा इन सबके बारे में जानता है, क्योंकि वह सर्वश्रेष्ठ है। अतः हे अर्जुन! तुम केवल आत्मा को सर्वश्रेष्ठ मानकर मन से काम-विकार को निकाल बाहर करो। क्योंकि यही व्यक्ति में आसक्ति का भाव जगाता है।

॥ कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय समाप्त ॥



ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग

श्री भगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।

विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

श्रीकृष्ण बोले—सर्वप्रथम मैंने यह नाशहीन कर्मयोग सूर्य को बताया, सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु को और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को दिया।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।

स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥

हे अर्जुन! इस प्रकार परंपरा द्वारा राजर्षियों ने इस कर्मयोग को जाना-पहचाना। परंतु बहुत समय उदासीन बीत जाने के कारण यह कर्म योग पृथ्वी से लगभग गायब हो गया।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्वं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

तुम क्योंकि मेरे भक्त और प्रिय मित्र हो, इसलिए हे अर्जुन! वही प्राचीन योग मैंने तुम्हें बताया है, वैसे यह बहुत ही गुप्त रखने योग्य विषय है।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।

कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

अर्जुन बोले—हे श्रीकृष्ण! आपका जन्म हुए तो कुछ ही वर्ष हुए हैं, जबकि सूर्यदेव अनंत वर्षों से मौजूद हैं। इसलिए मैं कैसे विश्वास करूँ कि सृष्टि के आरंभ में आपने ही सूर्य को इस कर्मयोग का ज्ञान दिया था?

श्री भगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥

श्री भगवान् बोले—हे अर्जुन! हमारे अनेक जन्म पहले भी हो चुके हैं। उनके बारे में तुम नहीं जानते, लेकिन मुझे

सब ज्ञान है।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

मैं जन्म-मृत्यु से परे, नाशहीन तथा इस जगत् का ईश्वर होते हुए भी अपने इस स्वभाव को वशीभूत कर अपनी योगमाया से सृष्टि के उद्धार हेतु जब-तब मनुष्य के रूप में अवतार लेता हूँ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

मित्र अर्जुन! पृथ्वी पर जब-जब धर्म का नाश और अधर्म की बढ़ोतरी होती है, तब-तब धर्म की पुनर्स्थापना और रक्षा के लिए मैं मनुष्य के रूप में अवतार लेता हूँ। और भक्तों की रक्षा, पापियों के विनाश तथा धर्म की रक्षा के लिए मैं इसी प्रकार प्रत्येक युग में जन्म लेता हूँ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

हे अर्जुन! मैं केवल प्राणियों के कल्याण के लिए क्रियाएँ करता हूँ, इसलिए मेरे जन्म और कर्म अलौकिक हैं। जो मनुष्य इस वास्तविकता को जान लेता है और स्वयं को मुझे अर्पित कर देता है, वह जन्म-मृत्यु के बंधन से मुक्त होकर मुझमें लीन हो जाता है। पहले भी मोह-आसक्ति, भय-क्रोध आदि को त्यागकर मुझ पर सबकुछ छोड़कर अनेक भक्त इस ज्ञान रूपी तपस्या द्वारा मुझमें लीन हो चुके हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

हे पार्थ! जो व्यक्ति जिस रूप में मुझे भजता है, मेरे मार्ग का अनुसरण करता है, मैं उसे उसी रूप में अपनाता हूँ। अर्थात् यदि कोई भक्त मुझे ईश्वर के रूप में देखता है तो मैं उसे वैसा ही दिखता हूँ, लेकिन यदि कोई मुझमें सोना, चाँदी या पत्थर देखता है तो मैं भी वैसा ही हो जाता हूँ।

काक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

आज अधिकतर मनुष्य केवल शीघ्र फल की इच्छा के साथ कर्म करते हैं। वे देव-उपासना भी फल पाने के लिए करते हैं। परंतु सकाम कर्म से मिलनेवाला फल नाशवान् होता है, जबकि निष्काम या इच्छारहित फल शाश्वत और परम संतुष्टिदायक होता है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र—ये चारों वर्ण, इनके गुण और कर्म मैंने ही निर्धारित किए हैं। लेकिन सृष्टि का कर्ता होने पर भी मैं अविनाशी परमेश्वर अकर्ता ही हूँ। क्योंकि कर्म के फल में मेरी कोई आसक्ति नहीं है, इसलिए कर्म मुझे कभी मोहित नहीं करते। इस प्रकार जो मुझे जान लेता है, वह कभी कर्मों से नहीं बँधता।

एवं ज्ञात्वा कृं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

प्राचीन समय में मोक्ष के इच्छुक लोगों ने भी इसी प्रकार कर्म किए हैं। इसलिए हे अर्जुन! तुम भी अपने पूर्वजों के अनुसार निष्काम कर्म करो।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

कर्म और अकर्म एक रहस्यमय विषय है—इसका निर्णय करने में विद्वान् भी भ्रमित हो जाते हैं। इसलिए इस कर्म-तत्त्व के विषय में मैं तुम्हें बताता हूँ, जिसकी सच्चाई जानकर तुम इस संसार रूपी बंधन से सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाओगे।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

कर्म के तत्त्व के साथ-साथ अकर्म और विकर्म (पाप) के तत्त्वों को भी जानना चाहिए। इनकी सूक्ष्म समीक्षा जरूरी है, क्योंकि कर्म की गति को समझना बहुत कठिन है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

जो मनुष्य कर्म करते हुए कर्ता का भाव नहीं रखता तथा फल की इच्छा का त्याग करके कर्म करता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान, योगी तथा सभी कर्मों का कर्ता होता है। अर्थात् कर्म करते हुए अथवा न करते हुए, जो सभी

स्थितियों में निर्लिप्त होता है, वही व्यक्ति सच्चा कर्मयोगी होता है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहु पण्डितं बुधाः ॥१९॥

जो व्यक्ति बिना संकल्प, फल या कामना के कर्म करते हैं तथा जिनके सभी कर्म ज्ञान रूपी अग्नि में जलकर नष्ट हो गए हैं, उन महापुरुषों को विद्वज्जन भी बुद्धिमान कहते हैं।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥

जो मनुष्य कर्म और उसके फल की इच्छा को त्याग देता है और संसार में रहते हुए भी इससे निर्लिप्त तथा तृप्त रहता है, वह कर्म करते हुए भी वास्तव में उसका कर्ता नहीं होता।

अर्थात् जो व्यक्ति स्वयं को कर्ता समझकर फल की इच्छा के साथ कर्म करता है, वह कर्म न करने पर भी बंधनग्रस्त होता है। लेकिन जो व्यक्ति कर्ता और फल की इच्छा का भाव त्याग देता है, वह कर्म करने पर भी उससे मुक्त रहता है।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।

शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

जिसने मन सहित सभी इंद्रियों को जीत लिया है; जिसने सभी भोगों को त्याग दिया है—ऐसा व्यक्ति सभी कर्म करते हुए भी कभी पापों से ग्रस्त नहीं होता। अर्थात् जो व्यक्ति अकर्ता भाव से केवल जीवन जीने के लिए ही कर्म करता है, वह अपने पापकर्म से भी मुक्त रहता है; वास्तव में वही सच्चा कर्मयोगी है।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वाद्वातीतो विमत्सरः ।

समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

जो व्यक्ति फल की कामना किए बिना अपने आप मिले पदार्थ से संतुष्ट रहता है; जो ईर्ष्या, मोह, आसक्ति, द्वंद्व आदि से मुक्त तथा फल-अफल को समान दृष्टि से देखता है, वह कर्मयोगी कर्म करते हुए भी उससे बंधनमुक्त होता है।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

हे अर्जुन! जिसकी आसक्ति, अभिमान और मोह नष्ट हो गए हैं; जिसकी बुद्धि परम परमात्मा में लीन है; जो केवल दूसरों के हित के लिए कर्म करता है, ऐसे मनुष्य के सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् उसके सभी कर्म भगवान् को अर्पित हो जाते हैं।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

जिस यज्ञ में अर्थात् परहित कर्म में अर्पण-पात्र ईश्वर है; यज्ञ में डाले जानीवाली सामग्री भी ईश्वर है तथा ईश्वर रूपी कर्ता द्वारा ईश्वर अग्नि में आहुति देने की क्रिया भी ईश्वर है। ऐसे यज्ञ करनेवाले जिस मनुष्य की ईश्वर में कर्म-समाधि हो गई है, उसे प्राप्त होनेवाला कर्मफल भी ईश्वर है। अर्थात् वह सबकुछ ईश्वर के लिए, ईश्वर द्वारा और ईश्वर को अर्पित कर देता है, वही कर्मयोगी है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

हे अर्जुन! यज्ञ अर्थात् कर्म सर्वथा अनिवार्य है। कुछ योगीजन देवताओं के पूजन-रूप में यज्ञ (कर्म) करते हैं, जबकि कुछ योगीजन ज्ञान द्वारा परमात्मा में स्थिर होकर परमात्मा रूपी अग्नि द्वारा जीवात्मा रूप यज्ञ (कर्म) का हवन करते हैं।

अर्थात् सदा जीवात्मा को परमात्मा के भजन, कीर्तन और मनन में लगाए रखकर कर्म करते रहते हैं।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।

शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

कुछ योगीजन विषय-भोगों पर नियंत्रण करके इंद्रियों द्वारा संयम रूपी अग्नि में हवन (कर्म) करते हैं, जबकि कुछ योगीजन भय, शोक, राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि विषयों द्वारा इंद्रिय रूपी अग्नि में हवन (कर्म) करते हैं।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।

आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

कुछ योगीजन समस्त शारीरिक क्रियाओं को त्यागकर समाधि योग रूपी अग्नि में हवन (कर्म) करते हैं।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

अनेक साधक द्रव्ययज्ञ करते हैं, कुछ तपोयज्ञ करते हैं, कुछ साधक योगयज्ञ करते हैं और कुछ स्वाध्याय रूपी ज्ञानयज्ञ करते हैं। अर्थात् कुछ लोग द्रव्ययज्ञ के रूप में उन्हें प्राप्त सभी वस्तुओं को परमार्थ में लगा देते हैं। कुछ लोग कठिन परिस्थितियों में भी हँसते-हँसते स्वधर्म का पालन करके इस तपोयज्ञ में लगे रहते हैं। कुछ लोग फल-अफल में तटस्थ रहकर योगयज्ञ का पालन करते हैं। कुछ लोग विभिन्न तरीकों से ईश-भक्ति करके ज्ञान रूपी यज्ञ-कर्म में लगे रहते हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।

प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

कुछ योगीजन प्राणायाम की विभिन्न क्रियाओं द्वारा निरंतर कर्म में लगे रहते हैं। ये सभी साधक कर्मों की अनिवार्यता को जानते हैं, इसलिए विभिन्न कर्मों द्वारा अपने पाप नष्ट करने में लगे रहते हैं।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! परमार्थ में किया गया कर्म ही वह यज्ञ होता है, जो श्रेष्ठ पुण्य प्रदान करता है। इस पुण्य को प्राप्त करनेवाला साधक देवलोक में स्थान पाता है। और यज्ञ (कर्म) न करनेवाले व्यक्ति को तो धरती पर भी सुख नहीं मिलता, फिर देवलोक में वह सुख कैसे पा सकता है? अर्थात् हर स्थिति में कर्म अनिवार्य है।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।

कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

इसी प्रकार, वेदों में और भी अनेक प्रकार के यज्ञों (कर्मों) का विस्तार से उल्लेख है। वे सभी यज्ञ अलग-अलग प्रकार के कर्म ही हैं। ये कर्म करके ही अर्जुन, तुम कर्म-बंधन से मुक्त हो सकोगे।

श्रेयाद्रव्यमयाद्यज्ञाज्ञानयज्ञः परंतप।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

हे अर्जुन! द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अधिक श्रेष्ठ है। क्योंकि अंत में संपूर्ण कर्म—ज्ञान में ही मिल जाते हैं। क्योंकि ज्ञान का उदय होते ही कर्मों और द्रव्यों की सार्थकता ज्ञात हो जाती है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि भव-बंधन से मुक्ति देनेवाले उस तत्त्वज्ञान को पाने के लिए केवल समर्पण की जरूरत है। अर्थात् यदि अर्जुन स्वयं को उनके प्रति अर्पित कर दें तो वे उन्हें अपने आप ही तत्त्वज्ञान दे देंगे।

यज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।

येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

उस तत्त्वज्ञान के बाद फिर तुम्हें आसक्ति पीड़ित नहीं करेगी। हे अर्जुन! इसको पाने के बाद तुम सभी प्राणियों को समता के भाव से पहले स्वयं में, बाद में मुझ परमात्मा में देखोगे।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

यदि तुम बड़े-से-बड़े पापी होगे तो भी तत्त्वज्ञान की शक्ति से तुम पाप रूपी भयंकर समुद्र से सुरक्षित पार हो जाओगे। अर्थात् उससे पापी व्यक्ति भी ज्ञानवान् होकर अपने पापों से मुक्ति पा सकता है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

हे अर्जुन! जिस प्रकार अग्नि इऔधन को जलाकर सदा के लिए नष्ट कर देती है, उसी प्रकार ज्ञान रूपी अग्नि भी तुम्हारे सभी कर्मों को जलाकर सदा के लिए नष्ट कर देगी।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

संसार में केवल ज्ञान ही वह श्रेष्ठ साधन है जो मनुष्य को पवित्र कर सकता है। जो मनुष्य कर्मयोग को अपना लेता है, वह कर्मयोगी इस तत्त्वज्ञान को बिना प्रयास के खुद ही पा लेता है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

जो व्यक्ति अपनी इंद्रियों को जीत लेता है, सारे साधन उसके लिए बेकार हो जाते हैं। उसी श्रद्धावान् मनुष्य को ज्ञान प्राप्त होता है और सच्चा ज्ञान पाने के तत्काल बाद उस मनुष्य को परम शांति प्राप्त हो जाती है।

अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति ।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

इसके विपरीत ज्ञानहीन, श्रद्धाहीन तथा संदेहों से घिरे मनुष्य का नाश हो जाता है। ऐसे भ्रमित लोगों को न तो इस लोक में सुख मिलता है, न परलोक में।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।

आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४१॥

हे धनंजय! जिसने कर्मयोग को अपनाकर अपने सभी कर्म परमात्मा को अर्पित कर दिए हैं तथा ज्ञान द्वारा जिसके सभी संदेहों का नाश हो गया हो, ऐसे मनुष्यों को कर्म नहीं बाँध सकते। बल्कि वे अकर्ता होकर कर्म करते हुए भी उनसे सर्वथा अलग रहते हैं।

तस्मादज्ञानसम्भू हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।

छित्त्वेनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

इसलिए हे भरतवंशी अर्जुन! तुम्हारे मन में अज्ञान से जो संदेह और भ्रम पैदा हो गया है, उसे विवेक रूपी तलवार से काटकर कर्मयोग को अपनाओ और युद्ध के लिए खड़े हो जाओ।

॥ ज्ञान-कर्म-संन्यास योग नामक चौथा अध्याय समाप्त ॥



कर्म-संन्यासयोग

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।

यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! आप कर्मों का त्याग करने के लिए भी कहते हैं, फिर कर्मयोग की प्रशंसा भी करते हैं। इसलिए इन दोनों में से केवल उसी के बारे में बताएँ, जो मेरे लिए कल्याणकारी हो।

श्री भगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

श्रीकृष्ण भगवान् बोले—संन्यास (सांख्य) योग और कर्मयोग—ये दोनों ही परम कल्याणकारी हैं। लेकिन इन दोनों में संन्यासयोग की अपेक्षा कर्मयोग अधिक श्रेष्ठ है।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काक्षति ।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

क्योंकि हे महाबाहो! जो मनुष्य न तो किसी से ईर्ष्या करता है और न किसी वस्तु की कामना करता है, वह संन्यासी के समान ही है। ऐसा राग-द्वेष से रिक्त मनुष्य संन्यासी की तरह सुखपूर्वक संसार के बंधनों से मुक्ति पा लेता है।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

मूर्ख व्यक्ति ही सांख्ययोग और कर्मयोग को अलग-अलग फल देनेवाला मानते हैं, जबकि इनमें से किसी एक साधन का भी पालन करके मनुष्य फल रूप में अभीष्ट परमात्मा को प्राप्त कर सकता है।

यत्सांख्यै प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

सांख्य (संन्यास) योगियों और कर्मयोगियों—दोनों को समान फल प्राप्त होता है। अतः जो व्यक्ति इन दोनों को

एक समान फलकारी के रूप में देखता है, वही सत्य का अनुभव कर पाता है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥६॥

हे महाबाहो! कर्मयोग के बिना संन्यासयोग भी सफल नहीं हो पाता, क्योंकि संन्यासी को भी कर्म करने पर ही फल मिलता है। इसीलिए तो परमात्मा का मनन-चिंतन और अनुसरण करनेवाला कर्मयोगी शीघ्र ही उसे पा लेता है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

जिसने इंद्रियों और शरीर को जीत लिया हो, जिसका अंतर्मन निर्मल हो, जो सभी को समदृष्टि से देखता हो, वही कर्मयोगी है और ऐसा व्यक्ति ही अकर्ता की तरह कर्म करते हुए उसमें लिप्त नहीं होता।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।

पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन् शनन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

तत्त्व (परमात्मा) को जाननेवाले संन्यास योगी को देखने, सुनने, बोलने, सूँघने, श्वसन आदि शरीर और इंद्रियों के सभी कार्यों को करते हुए भी स्वयं को कभी कर्ता नहीं मानना चाहिए।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगत्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

जो व्यक्ति अपने सभी कर्म ईश्वर को अर्पित करके मोह-रहित होकर कर्म करता है, वह जल में उगे कमल के पते के समान पाप से बिलकुल अलग रहता है।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्ग त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

कर्मयोगी मोह-ममता का त्याग करके केवल आत्म-शुद्धि के लिए ही मन, शरीर, बुद्धि और इंद्रियों से कर्म करते हैं।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

कर्मयोगी कर्मफल की इच्छा का त्याग करके परम शांति प्राप्त करता है, जबकि फल की इच्छा के कारण मनुष्य

आसक्त होकर कर्म से बँध जाता है। वास्तव में कर्म न तो बाँधनेवाले होते हैं, न मुक्त करने वाले; बल्कि कर्मफल की इच्छा ही मनुष्य को बंधन में जकड़ लेती है, जबकि कर्मफल की इच्छा का त्याग करके मनुष्य कर्म-बंधन से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

जिस व्यक्ति का मन, शरीर और इंद्रियाँ आत्म-नियंत्रित हों, वह अपने सभी कर्मों को मन से त्यागकर अकर्ता के रूप में ईश्वर के स्वरूप में मग्न रहता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु ।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

कर्ता, कर्म और कर्मफल मनुष्य के बनाए हुए हैं। ईश्वर किसी को कर्म करने के लिए प्रेरित नहीं करते। स्वभाववश मनुष्य कर्म करता है और स्वयं को उसका कर्ता समझ लेता है और इसी कारण अज्ञानतावश दुख-सुख का अनुभव करता है।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृं विभु ।

अज्ञानेनावृं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

हे अर्जुन! वास्तव में ईश्वर न तो किसी के शुभ कर्मों को ग्रहण करते हैं, न किसी के अशुभ कर्मों को; बल्कि अज्ञान के कारण लोग ऐसा समझते हैं।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।

तेषामादित्यवज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

लेकिन जो साधक अपनी बुद्धि से इस तथ्य को समझ लेते हैं, उनका अज्ञान नष्ट हो जाता है और अंतःकरण में तत्त्वज्ञान का प्रकाश फैल जाता है।

तद्बुद्ध्यस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

जो साधक मन, बुद्धि और शरीर से स्वयं को ब्रह्म में लीन कर लेते हैं, वे पाप-पुण्य के बंधन से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

जो व्यक्ति बुद्धिमान हैं, जिनमें विवेक है वे ज्ञानी ब्राह्मण और मूर्ख चांडाल तथा गाय, हाथी और कुत्ते जैसे

प्राणियों में एक ही ईश्वर को देखते हैं, अर्थात् सभी प्राणियों को समदृष्टि से देखते हैं और उन्हें एक ईश्वर का अंश मानते हैं।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

जिनका अंतर्मन सभी प्राणियों को समान मानता है, वे जीते-जी इस संसार को जीत लेते हैं और ब्रह्म की भाँति निर्दोष एवं समदृष्टि के कारण ब्रह्म में ही लीन होते हैं।

न प्रहृष्येत्त्रिं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।

स्थिरबुद्धिरसम्भूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

जो व्यक्ति न तो इच्छित वस्तु को पाकर प्रसन्न हों और न अप्रिय वस्तु को पाकर दुखी हों, वे स्थिर चित्तवाले होते हैं। ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति जीते-जी ब्रह्म में स्थित होते हैं।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

बाहरी विषयों में आसक्ति न रखनेवाले मनुष्य को, आत्मा में स्थित परम सात्त्विक आनंद प्राप्त होता है। फिर वह ब्रह्म में लीन होकर अक्षय सुख-अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।

आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

हे कुंतीनंदन! क्योंकि इंद्रियों और विषयों के मिलन से उत्पन्न होने वाले सुख आरंभ और अंतवाले, क्षणिक तथा दुख-सुख के कारण होते हैं। इसलिए ज्ञानीजन उनमें नहीं बँधते।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।

कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

मृत्यु से पूर्व ही जो व्यक्ति काम-क्रोध, राग-द्वेष, ईर्ष्या, मोह आदि विकारों को जीत लेता है, वही सच्चा योगी है; वही सुख-दुख से परे है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

जो साधक मन, कर्म और वचन से परमात्मा में लीन है; वही सच्चा ज्ञानी है और मोक्ष भी उसी को मिलता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।

छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

जिस व्यक्ति ने शरीर के साथ-साथ मन, बुद्धि, इंद्रियों को जीत लिया है; जिसके सभी पाप, दोष और भ्रम दूर हो गए हैं; जो प्राणिमात्र के कल्याण में जुटा है-ऐसा ज्ञानी व्यक्ति निश्चित ही मुक्ति (मोक्ष) का अधिकारी होता है।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।

अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

जिसके काम-क्रोध, राग-द्वेष जैसे विकार नष्ट हो गए हों; जिसने ईश्वर को जान लिया हो, ऐसा ज्ञानी व्यक्ति जीते-जी और मृत्यु के बाद भी परब्रह्म में लीन रहता है। अर्थात् वह प्रत्येक कार्य में ईश्वर को कर्ता समझता है और सुख-दुख, हर्ष-विषाद आदि से मुक्त होकर परम पद का अधिकारी बनता है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भुवो।

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।

विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

जिसने प्राणायाम द्वारा अपने मन, मस्तिष्क, शरीर और इंद्रियों को आत्मनियंत्रित कर लिया है; जो इच्छा, भय, काम, क्रोध आदि विकारों से मुक्त है; जो बाहरी वस्तुओं के प्रति अनासक्त है; वह संन्यासयोगी कभी बंधनग्रस्त नहीं होता; सदा मुक्त रहता है—जीते-जी भी, मरकर भी।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

जो लोग मुझे (श्रीकृष्ण को) सभी कर्मों, क्रियाओं, तपों, यज्ञों का ग्रहणकर्ता मानकर मुझमें लीन रहते हैं, वे परम शांति (मोक्ष) प्राप्त करते हैं।

॥ कर्म-संन्यासयोग नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त ॥



आत्म-संयमयोग

श्री भगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

श्री भगवान् बोले—जो मनुष्य कर्म-फल की इच्छा किए बिना केवल कर्तव्य की दृष्टि से कर्म करता है, वही संन्यासी और कर्मयोगी है। केवल अग्नि का त्याग करके संन्यासी नहीं बन सकते हैं और क्रियाओं को त्यागकर कोई योगी नहीं बन जाता। अर्थात् कर्मफल की इच्छा संन्यासी और योगी—दोनों को आसक्ति की ओर धकेल देती है और जो व्यक्ति इस इच्छा को त्याग देता है, वही सच्चा संन्यासी या कर्मयोगी कहलाता है। क्योंकि कर्मफल की इच्छा का त्याग करते ही परम शांति प्राप्त हो जाती है।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।

न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

हे अर्जुन! संन्यासयोग और कर्मयोग में कोई भेद नहीं है; लेकिन दोनों में आसक्तियों का त्याग अनिवार्य है, तभी मनुष्य योगी हो सकता है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

योग अथवा समदृष्टि प्राप्त करने के लिए व्यक्ति का निष्काम भाव से कर्म करना जरूरी है। योगी की स्थिति प्राप्त हो जाने के बाद फिर योगी को जो परम शांति प्राप्त होती है, उससे साधक परमात्मा में लीन हो जाता है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।

सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

जैसे ही मनुष्य इंद्रियों को अपने वश में करके कर्मों की आसक्ति का त्याग करता है, वह योगारूढ़ या योग में स्थित योगी हो जाता है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

मनुष्य इस संसार में स्वयं ही अपना कल्याण करे, स्वयं को पतन की ओर अग्रसर न करे; क्योंकि मनुष्य स्वयं

ही अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु। अर्थात् अपनी कमियों को देखकर स्वयं ही उन्हें सुधार लें और अपने गुरु आप ही बनें।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

जिस मनुष्य ने इंद्रियों सहित स्वयं को जीत लिया हो, उसके लिए वह स्वयं ही अपना बंधु है। परंतु जिसने स्वयं को नहीं जीता, वह स्वयं के साथ शत्रु की तरह व्यवहार करता है। अर्थात् मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र है, स्वयं ही शत्रु। मित्र बनकर वह अपना कल्याण कर सकता है और शत्रु बनकर हानि।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयो ॥७॥

जिसने अपने शरीर, मन और इंद्रियों को वश में कर लिया है, उस लाभ-हानि, सुख-दुःख, मान-अपमान आदि से अप्रभावित रहनेवाले मनुष्य को ईश्वर सहज ही प्राप्त हैं।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।

युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

जिसका अंतर्मन ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश से उजला है, जो विकार-रहित है, जिसने अपनी इंद्रियों को जीत लिया है और जिसके लिए सोना, मिट्टी, पत्थर इत्यादि सभी पदार्थ समान हैं, ऐसा मनुष्य योगारूढ़ (योग में स्थित) कहा जाता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

निस्स्वार्थ भाव से सबका हित करनेवाला; मित्र, शत्रु, पापी, पुण्यात्मा आदि सभी का भला चाहनेवाला, द्वेष-रहित तथा विभिन्न आचरणवाले मनुष्यों से समभाव रखनेवाला मनुष्य उत्तम है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।

एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

मन, इंद्रियों तथा शरीर को वश में रखनेवाला, आसक्ति-रहित तथा भोगों के लिए संग्रह न करनेवाला मनुष्य एकांत में बैठकर ब्रह्म में ध्यान लगाए। अर्थात् ऐसा गुणी व्यक्ति ही ध्यान योग का अधिकारी होता है।

अर्जुन के मन से युद्ध का भय दूर करने के लिए भगवान् ने उन्हें ध्यानयोग का उपदेश भी दिया।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।

नात्युच्छिन्नं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।

उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

समतल व स्वच्छ स्थान पर स्वच्छ आसन लगाकर शांत भाव से बैठे और इंद्रियों को वश में रखते हुए मन को एकाग्र करे। इस प्रकार आत्मा की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।

संप्रेक्ष्य नासिकागं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

शरीर, सिर और गरदन को सीधा रखे; अपनी नाक के अग्रभाग को स्थिर दृष्टि से देखते हुए निश्चल होकर बैठे। वह शांत मन से निडरतापूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए मन को वश में करके केवल मेरा ध्यान करे।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।

शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

जिसने मन को अपने वश में कर लिया हो, ऐसा योगी मेरे परमात्मा-स्वरूप में लीन होकर मोक्ष-प्रदायक शांति पाता है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।

न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

हे अर्जुन! अधिक अन्न खानेवाला अथवा बिलकुल अन्न को त्याग देनेवाला; अधिक सोनेवाला या निद्रा को छोड़ देनेवाला व्यक्ति इस योग को सिद्ध नहीं कर सकता।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

हे अर्जुन! समुचित भोजन ग्रहण करनेवाला, समुचित सोने-जागने वाला और सभी अनिवार्य कर्मों को ठीक समय करनेवाला ही इस दुःखनाशक योग में पारंगत हो सकता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।

निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

परमात्मा में लीन चित्त जैसे ही विकार-रहित होकर सभी आसक्तियों से निर्लिप्त होता है, तभी वह साधक पूर्ण योगी हो जाता है।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।

योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

जहाँ हवा स्थिर होती है उस स्थान पर दीपक की लौ भी स्थिर हो जाती है, इसी प्रकार जो साधक योग द्वारा अपने चित्त को वश में कर लेता है, वह भी शांत और स्थिरचित्त हो जाता है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।

यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

योग के अभ्यास से जिस अवस्था में भगवान् में मग्न मन प्रकृति में लीन हो जाता है और आत्मा परमात्मा में, तब रोम-रोम परमात्मा का ध्यान कर सूक्ष्म बुद्धि द्वारा उन्हें देखते हुए संतुष्ट हो जाता है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

साधक को शारीरिक, मानसिक और आत्मिक प्रयास से जो सुख प्राप्त होता है, उस परम सुख को पाने के बाद ध्यान में लीन योगी फिर उससे अलग नहीं होना चाहता। अर्थात् वह सुख अलौकिक, अनन्य और विलक्षण होता है।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।

यस्मिन्स्थितो न दुखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

यह वह उपलब्धि होती है अर्जुन, कि इसके बाद साधक को बड़े-से-बड़े लाभ भी तुच्छ लगने लगते हैं। इस स्थिति में वह भारी-से-भारी दुख से भी विचलित नहीं होता।

तं विद्याद् दुखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

योग वह क्रिया है जिसमें संसार के सभी दुखों से छुटकारा मिल जाता है, क्योंकि वह ईश्वर से मिलन का मार्ग है। और एक बार ईश्वर से मिलन होने पर फिर वे सदा के लिए साथ रहते हैं। इसलिए इस योग को धैर्य और उत्साह के साथ दृढ़ता से करना चाहिए।

संकल्पप्रभवान्कामास्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

योग में सिद्धि के लिए साधक आसक्ति से जनमनेवाली सभी इच्छाओं को छोड़कर चित्त द्वारा सभी इंद्रियों को नियंत्रित करे तथा धैर्यपूर्वक संसार से विरक्त होकर स्वयं को परमात्मा के स्वरूप में स्थित कर ले। इसके बाद फिर किसी का भी चिंतन शेष न रहे।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥२६॥

मनुष्य को चाहिए कि यह अस्थिर और चंचल मन जिन-जिन विषयों और आसक्तियों में लगता है, वहाँ से उसे हटाकर सतत ईश्वर में ही लगाए।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।

उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥२७॥

जिस व्यक्ति के सब पाप नष्ट हो गए हैं; जिसके लोभ, आसक्ति, संकल्प और विकल्प जैसे रजोगुण शांत हो गए हैं, ऐसे योगी पुरुष को ब्रह्म के स्वरूप में समाधि लगाने से परम आनंद प्राप्त होता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥२८॥

इस प्रकार, वह योगी ब्रह्म को पाने जैसा सुख प्राप्त करता है, जिसका वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥२९॥

सभी वस्तुओं में परमात्मा को देखनेवाला ध्यान योगी सभी प्राणियों में मेरे ही स्वरूप को तथा मेरे स्वरूप में सभी प्राणियों को देखता है। अर्थात् वह समदृष्टि हो जाता है।

यो मां पश्याति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥३०॥

जो भक्तयोगी मुझे सभी प्राणियों में तथा सभी को मुझमें देखता है, उसके लिए न तो मैं अदृश्य रहता हूँ और न ही वह मेरे लिए अदृश्य होता है। अर्थात् मेरा अनन्य भक्त सरलता से मुझे पा लेता है और मैं हमेशा उस पर कृपा-दृष्टि बनाए रखता हूँ।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥३१॥

मेरे ध्यान में लीन होकर मेरा जो भक्त संपूर्ण प्राणियों में स्थित मेरे ही स्वरूप का चिंतन, मनन और भजन करता है, वह सदैव मुझमें ही स्थित है और मैं भी उससे कभी भी अलग नहीं होता।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

हे अर्जुन! जो व्यक्ति अपनी इंद्रियों के सभी स्थानों में समान भाव से मुझे ही देखता है; जो सुख और दुःख के लिए समभाव रखता है, वह श्रेष्ठ पुरुष परम योगी के समान होता है।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।

एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।

तस्याहं निग्रं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

तब अर्जुन बोले—हे मधुसूदन! आपने समभाव का जो योग बताया है, मैं समझता हूँ कि मन की चंचलता के कारण इस योग को सहजतापूर्वक करना बड़ा कठिन है। क्योंकि हे श्रीकृष्ण! मन बहुत चंचल, हठी और शक्तिशाली है। इसलिए इसे वश में करना वायु को रोकने के समान कठिन काम है।

श्री भगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रं चलम् ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

श्री भगवान् बोले—हे महाबाहो अर्जुन! तुम ठीक कहते हो, यह मन बहुत चंचल है। इसे वश में करना बहुत कठिन है। परंतु हे कुंतीनंदन! निरंतर अभ्यास और अनासक्ति द्वारा इसे सरलता से वश में किया जा सकता है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।

वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

जिस व्यक्ति का मन पूरी तरह से वश में नहीं है, ऐसे लोग योग नहीं कर सकते। लेकिन जो लोग दैनिक नियमों और इंद्रिय-संयम द्वारा मन को वश में कर लेते हैं, उन्हें यह योग-सिद्धि सहज ही मिल जाती है।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।

अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! जो मनुष्य योग में श्रद्धा रखता हो और उसे करता भी हो, परंतु आसक्तियों से भी घिरा हो और यदि अंत समय में ऐसे मनुष्य का मन योग से विचलित हो जाए तो वह किस गति को प्राप्त होगा? वह किस लोक में जाएगा?

कच्चिन्नोभयविभष्टश्छिन्नाभमिव नश्यति ।

अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

हे महाबाहो! तुम यही जानना चाहते हो न कि संसार से निकाला और परमानंद पाने के मार्ग से बिछड़ जानेवाला साधक लोक-परलोक दोनों ओर से भष्ट होकर नष्ट-भष्ट तो नहीं हो जाता?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।

त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

हाँ, श्रीकृष्ण! मेरे इस संदेह को केवल आप ही दूर कर सकते हैं, क्योंकि इस संदेह को भेदने योग्य आप जैसा अन्य कोई शास्त्र नहीं है।

श्री भगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।

न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

श्री भगवान् बोले—हे पृथानंदन! ऐसे मनुष्य की न तो इस लोक में कोई हानि होती है और न परलोक में। क्योंकि हे अर्जुन! ब्रह्म-नियम है कि कल्याणकारी कार्य में लगे किसी भी व्यक्ति की हानि नहीं होती।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वती समाः ।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभष्टोऽभिजायते ॥४१॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।

एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

ऐसे व्यक्ति मृत्यु के बाद अनेक वर्षों तक स्वर्ग जैसे उत्तम लोकों में जन्म लेते हैं। वहाँ अनेक वर्षों तक सुख भोगकर वे पुनः आसक्तिहीन महात्माओं अथवा ज्ञानी योगियों के कुल में जन्म लेते हैं। संसार में ऐसा जन्म दुर्लभ है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।

यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

हे कुरुनंदन! वहाँ उसे पूर्वजन्म के ईश्वर-भक्ति योग के संस्कार सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। इसके बाद वह परमात्मा को पाने के लिए पहले से अधिक प्रयास करता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्ययते ह्यवशोऽपि सः ।

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

पुनर्जन्म लेने के बाद वह योग-भट्ट मनुष्य भोगों के अधीन होने पर भी पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण ईश्वर की भक्ति की ओर खिंच जाता है; क्योंकि केवल इस योग को जानने की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति भी वेदों में बताए गए सकाम कर्मों से ऊपर उठ जाता है तो योग करने के बाद उससे विचलित हुए व्यक्ति का तो पतन हो ही नहीं सकता, अर्थात् उसकी मुक्ति तो देर-सबेर निश्चित ही है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धिकिल्बिषः ।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

लेकिन आसक्तिरहित होकर तन, मन, धन से संकल्पपूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी पूर्वजन्मों के संस्कारों के फलस्वरूप अपने सभी पापों से मुक्त होकर तत्काल मोक्ष पा लेता है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपिमतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

हे अर्जुन! मेरा मानना है कि तपस्वियों, ज्ञानियों तथा सकाम कर्म करनेवालों से भी योगी का स्थान उत्तम और श्रेष्ठ है। इसलिए मेरी इच्छा है कि तुम योगी बनो।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

सभी योगियों में भी जो भक्त योगी पूरी श्रद्धा, आस्था और विश्वास से निरंतर केवल मेरा चिंतन-मनन-भजन करते हैं, मैं केवल उन्हीं को सर्वश्रेष्ठ योगी मानता हूँ।

॥ आत्मसंयमयोग नामक छठा अध्याय समाप्त ॥



ज्ञान-विज्ञानयोग

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

श्री भगवान् बोले—हे पार्थ! मन से मेरा ध्यान करके तथा अनन्य भाव से निरंतर योग का अभ्यास करते हुए तुम मेरे जिस स्वरूप के बारे में जानोगे, अब मैं तुम्हें उसी के बारे में बताता हूँ।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।

यज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

मैं तुम्हें ज्ञान-विज्ञानसम्मत पूरा ज्ञान दूँगा, जिसे जान लेने के बाद इस विषय में कुछ और जानना शेष नहीं रहेगा। अर्थात् अब मैं जो ज्ञान बताऊँगा, उसे समझने के बाद संसार के अन्य किसी ज्ञान को समझने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। तुम सबकुछ जाननेवाले हो जाओगे।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

प्रिय अर्जुन! सहस्रों में से कोई एक मनुष्य आत्मकल्याण के लिए तत्पर होता और प्रयास करता है। उन प्रयास करनेवाले असंख्य मनुष्यों में से कोई एक भाग्यशाली ही मेरे स्वरूप को ठीक प्रकार से जानता और समझता है।

भूमिरापोऽनलो वायु खं मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

मेरी यह नाशवान् प्रकृति—पृथ्वी, जल, प्रकाश, वायु, आकाश, मन, बुद्धि व अहंकार—उक्त आठ भेदोंवाली है। यह मेरी जड़ प्रकृति है। हे महाबाहो! इस नाशवान् प्रकृति के बदले तुम मेरी उस नाशहीन अथवा चेतन प्रकृति के विषय में जानो, जो इस जगत् को धारण करती है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

संसार में सभी प्राणी मेरी इन दोनों प्रकृतियों—जड़ और चेतन—के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं। मैं ही जगत् की उत्पत्ति और मैं ही प्रलय हूँ। अर्थात् मैं ही जगत् की सृष्टि और नाश का मूल कारण हूँ।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥७॥

इसलिए हे धनञ्जय! इस संसार का कर्ता, कार्य और कारण केवल मैं ही हूँ। जैसे धागे में मोती पिरोए जाते हैं वैसे ही यह जगत् मुझमें समाया हुआ है।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययो।

प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥८॥

हे कुंतीनन्दन! मैं ही जल में रस हूँ; चंद्रमा और सूर्य में आभा (प्रकाश) हूँ; सभी वेदों में ओंकार (प्रणव) हूँ, आकाश में शब्द हूँ और पुरुषों में पुरुषत्व हूँ।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।

जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥९॥

पृथ्वी में मैं पवित्र गंध हूँ; अग्नि में तेज हूँ, सभी प्राणियों में जीवन रूपी शक्ति हूँ; और तपस्वियों की तपस्या में भी मैं ही हूँ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।

बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥१०॥

हे पृथानन्दन! सभी प्राणियों की उत्पत्ति और अंत मैं ही हूँ। सभी जीव बीजरूप में मुझसे जनमते हैं, मुझमें पलते हैं और अंत में मुझमें ही लीन हो जाते हैं। मैं ही बुद्धिमानों में बुद्धि-विवेक और तेजस्वियों में तेज एवं ओज हूँ।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥११॥

हे भरतवंशी अर्जुन! बलवानों में राग-द्वेष, मोह-आसक्तिरहित बल और क्षमता मैं ही हूँ; मैं ही प्राणियों में धर्मयुक्त काम और आसक्ति हूँ। अर्थात् जगत् की सारी सत्ता मुझसे ही नियंत्रित है। सब कर्म मेरी आज्ञा से ही होते हैं।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।

मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥१२॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥१३॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

जितने भी सात्त्विक, राजस और तामस भाव हैं, वे मुझसे ही पैदा होते हैं। परंतु न मैं उनमें हूँ और न ही वे मुझमें हैं। लेकिन इन तीनों गुणरूप भावों से मोहित होने के कारण यह सारा संसार मुझे अविनाशी को नहीं जानता। क्योंकि मेरी माया से पार पाना बड़ा कठिन है। लेकिन जो मेरे शरणागत हो जाते हैं, वे इस माया से सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाते हैं और मोक्ष के अधिकारी बनते हैं।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

माययापहतज्ञाना आसुं भावमाश्रिताः ॥१५॥

परंतु, माया के कारण जिनका ज्ञान नष्ट हो जाता है, ऐसे तामसी भाववाले लोग तथा लोभी, कपटी, बेईमान, नीच कार्यों में लिप्त एवं पापकर्म करनेवाले विवेकहीन मनुष्य मेरे शरणागत नहीं होते। अर्थात् ऐसे मनुष्य सांसारिक सुखों को ही श्रेष्ठ मानते हैं और विषय-आसक्तियों में फँसकर अपना जीवन व्यर्थ गँवा देते हैं।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

हे भरतवंशी अर्जुन! सात्त्विक कर्म करनेवाले चार प्रकार के मनुष्य मेरे शरणागत होते हैं। ये हैं—‘अर्थार्थी’, जिन्हें जीवनयापन भर के लिए सुख-सुविधाओं की जरूरत होती है; ‘आर्त’, जो संकट आने पर मुझे पुकारते हैं; ‘जिज्ञासु’, जो मुझे जानने के प्रबल इच्छुक होते हैं और ‘ज्ञानभक्त’, जो इच्छारहित होकर केवल प्रेमभाव से मुझे भजते हैं। इन चार प्रकार के भक्तों में मुझे ज्ञानी भक्त अत्यंत प्रिय है, क्योंकि ज्ञानी भक्त केवल मुझे पाने के लिए मुझे भजता है।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।

आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

यद्यपि ये चारों भक्त बड़े उदार और श्रेष्ठ हैं, लेकिन इनमें से ज्ञानी भक्त तो साक्षात् मेरा ही स्वरूप है; क्योंकि वह मुझसे अभिन्न है और निष्काम भाव से मेरी भक्ति में लगा रहता है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

अनेक जन्मों के बाद मिले अंतिम मनुष्य-जन्म में जो व्यक्ति केवल यह भजता है कि परमात्मा (वासुदेव) ही मेरे सबकुछ हैं—वह मनुष्य महात्मा के समान होता है, जो कि बहुत कठिनाई से देखने को मिलता है।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

विभिन्न कामनाओं और आसक्तियों में पड़कर जिन लोगों का ज्ञान नष्ट हो जाता है, वे लोग विभिन्न देवताओं की शरण में जाकर उनका भजन-पूजन करते हैं।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।

तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

जो भक्त सकाम भाव से जिस देवता की श्रद्धापूर्वक पूजा करता है, मैं उसी देवता के प्रति उसकी श्रद्धा को दृढ़ और स्थिर करता हूँ।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।

लभते च ततः कामान्मयैव विहितानि तान ॥२२॥

उस देवता के प्रति अपनी सकाम श्रद्धा और पूजा के फलस्वरूप उस भक्त की सभी इच्छाएँ पूरी होती हैं। और हे अर्जुन! वे इच्छाएँ मेरे द्वारा ही पूरी होती हैं।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।

देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

परंतु हे भरतश्रेष्ठ! उन विवेकहीनों को देवताओं की आराधना से जो फल प्राप्त होता है, वह नाशवान् होता है। अन्य देवताओं का पूजन करनेवाले मृत्यु के बाद उन्हीं को प्राप्त होते हैं, जबकि मेरे भक्त मुझमें ही लीन हो जाते हैं। अर्थात् वे मोक्ष पाकर जन्म-मृत्यु के बंधन से मुक्त हो जाते हैं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।

परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

ये वे विवेकहीन लोग हैं जो मेरे परमोच्च, अविनाशी और सर्वश्रेष्ठ स्वरूप को नहीं जानते। इसलिए मुझ परमेश्वर परमात्मा को वे केवल एक साधारण मनुष्य मानकर उसी दृष्टि से देखते हैं।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

अपना वास्तविक स्वरूप मैं सबके सामने प्रकट नहीं करता, बल्कि अपनी योगमाया से उसे छिपाए रखता हूँ। यही कारण है कि लोग मेरे परमेश्वर रूप का दर्शन नहीं कर पाते और मुझे भी अपनी तरह जन्म लेने और मरनेवाला समझने लगते हैं।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।

भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

हे अर्जुन! मैं सभी कालों में जनमे लोगों को जानता हूँ। जो भूतकाल में हो चुके हैं, जो वर्तमान में हैं और जो भविष्य में होंगे—उन सभी को; परंतु मुझे केवल मेरे अभिन्न भक्त ही जान सकते हैं, और कोई नहीं।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वद्धमोहेन भारत ।

सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥

हे अर्जुन! यही कारण है कि मोह, आसक्ति और कामनाओं के जाल में उलझा यह प्राणी-जगत् लगातार जीवन-मृत्यु के चक्र में उलझा रहता है।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।

ते द्वद्धमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

परंतु आसक्तिहीन रहकर पुण्य कर्म करने से जिन लोगों के पाप नष्ट हो जाते हैं, वे मोह-माया का त्याग कर दृढ़ भक्ति-भाव से केवल मेरा ही ध्यान करते हैं। उन्हीं का जीवन सफल है। केवल वे ही मोक्ष के अधिकारी होते हैं।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।

ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।

प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

मेरे जो भक्त वृद्धावस्था, बीमारियों, जन्म और मृत्यु से सदा-सदा के लिए मुक्ति पाने के लिए मुझे भजते हैं, वे मेरे वास्तविक स्वरूप को पहचान जाते हैं। मेरे ऐसे आसक्तिविहीन भक्त जो अधिभूत (नाशवान् पदार्थ या भौतिक स्थूल सृष्टि), अधिदैव (ब्रह्माजी) और अधियज्ञ (विष्णुजी) सहित मेरा स्मरण, चिंतन, मनन करते हैं, अंत में मोक्ष पाकर मुझमें लीन हो जाते हैं।

॥ ज्ञान-विज्ञानयोग नामक सातवाँ अध्याय समाप्त ॥



अक्षरब्रह्मयोग

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।

अधिभू च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।

प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

अर्जुन ने पूछा—हे पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण! ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म क्या हैं? अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ किसे कहते हैं? हे मधुसूदन! यहाँ अधियज्ञ किसे कहा गया है? और उसका निवास कहाँ है? लोग अंतकाल में आपको किस प्रकार जान पाते हैं?

श्री भगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।

भूतभावोद्भवकरो विसर्ग कर्मसंज्ञितः ॥३॥

भगवान् बोले—ब्रह्म शब्द अक्षर अर्थात् नाशहीन, निर्गुण, निराकार परमेश्वर का वाचक है तथा प्राणी या जीवात्मा को अध्यात्म कहते हैं। प्राणियों की सत्ता अथवा उनके भाव को प्रकट करनेवाला त्याग कर्म कहलाता है।

अधिभू क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।

अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥४॥

हे अर्जुन! क्षर अथवा नाशवान् पदार्थ अधिभूत कहलाते हैं; ब्रह्मा अधिदैव हैं और इस शरीर में अदृश्य रूप से निवास करनेवाला मैं वासुदेव ही अधियज्ञ हूँ।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

जो व्यक्ति अपने अंतिम समय में मेरा नाम भजते हुए शरीर त्यागता है, वह निस्देह मेरे स्वरूप में लीन हो जाता है। अर्थात् उसे निश्चित ही मोक्ष मिलता है।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

हे कुंतीपुत्र! मृत्यु के समय मनुष्य जिस विषय-वस्तु का चिंतन करते हुए शरीर त्यागता है, वह उसी विषय-वस्तु के भाव को पाता है। अर्थात् यदि वह अपने प्रिय पशु का चिंतन करते हुए शरीर त्यागता है तो उसी पशु-योनि में जन्म लेता है; यदि अपने मकान का चिंतन करता है तो उसी मकान में चूहा, छिपकली, कीट आदि के रूप में जन्म लेता है और यदि भगवान् वासुदेव का चिंतन करता है तो मोक्ष पाकर उनमें लीन हो जाता है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मा मेवैष्यस्य संशयम् ॥७॥

इसलिए अर्जुन, तुम सदा मुझे याद करते हुए मुझे अपने मन में बिठा लो और युद्ध भी करो, क्योंकि यह अवश्यंभावी है। इस प्रकार, मेरे चिंतन, मनन और भजन से तुम निस्देह मुझमें ही लीन हो जाओगे।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।

परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

हे पार्थ! अभ्यास योग से केवल परमेश्वर का ही चिंतन-मनन-भजन करनेवाला उसका अनन्य भक्त निस्देह उन्हीं में लीन हो जाता है। यहाँ अभ्यास योग का अर्थ है, बारंबार समदृष्टि से परमेश्वर का मनन करना। वासुदेव कहते हैं कि ईश्वर का सच्चा भक्त सच्ची निष्ठा से उन्हें भजकर निश्चित ही अपने ईश्वर को पा लेता है।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।

सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।

भुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्त्वं स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

जो सर्वज्ञ हैं, अंतहीन हैं, सूक्ष्म हैं, सब पर शासन करनेवाले, परम ज्ञानी, सबका पोषण करनेवाले और सूर्य की तरह तेजस्वी हैं—ऐसे परमेश्वर का चिंतन-मनन करते हुए जो भक्त योगबल से अपने प्राण को दोनों भौंहों के बीच में स्थापित करके देह त्यागता है, वह उन्हीं दिव्य परमेश्वर में लीन हो जाता है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

वेदज्ञाता और विवेकशील लोग जिस परमोच्च स्थिति को अक्षर (नाशहीन) कहते हैं, मोह-माया से दूर संन्यासी लोग जिसे प्राप्त करते हैं और श्रद्धावान् साधक जिसे पाने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं, हे अर्जुन! मैं तुम्हें उस स्थिति (पद) के बारे में बताता हूँ।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।

मूढन्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।

यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

जो योगी-भक्त इंद्रियों के सभी मार्गों को रोककर, चंचल मन को हृदय में केंद्रित करके, प्राण को मस्तक में धारण करके निर्गुण अक्षर ब्रह्म 'ॐ' का मानसिक चिंतन और मेरा स्मरण करते हुए शरीर त्यागता है, उसे मोक्ष मिलता है और वह मुझमें लीन हो जाता है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

हे पृथानंदन! मेरा जो भक्त सच्चे मन से नित्य मेरा स्मरण करता है, उस योगी भक्त को मैं सरलता से मिल जाता हूँ।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।

नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

मुझे पाकर ज्ञानीजन को परम गति मिल जाती है, जिससे उन्हें निरंतर परिवर्तनशील सांसारिक मोहों और जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति मिल जाती है।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

हे अर्जुन! पृथ्वी से स्वर्ग और ब्रह्मलोक तक सभी लोक नाशवान् हैं। उन लोकों में जाकर पुनः संसार में लौटना पड़ता है। लेकिन हे कौन्तेय! मैं जन्म-मृत्यु से मुक्त और समय-चक्र से पूरी तरह अप्रभावित हूँ। इसलिए मुझे प्राप्त कर लेने के बाद मनुष्य पुनर्जन्म के चक्र से सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।

रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वा प्रभवन्त्यहरागमे ।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—इन चार युगों के समय को एक चतुर्युगी कहते हैं। ऐसी एक सहस्र चतुर्युगी बीतती हैं तो ब्रह्माजी का एक दिन होता है और इतना ही समय बीतने पर उनकी एक रात होती है। ऐसे ही दिन-रात जुड़कर सौ वर्षों की ब्रह्माजी की आयु होती है। इसके बाद ब्रह्माजी सहित उनका ब्रह्मलोक परमात्मा में लीन हो जाता है। इस प्रकार, नश्वर सृष्टि की वास्तविकता जाननेवाले साधक ब्रह्मलोक तक के सुखों को सारहीन समझते

हैं। ब्रह्माजी के इसी दिन के आरंभ में सभी प्राणी उनके निर्गुण शरीर से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माजी की रात के आरंभ में सभी प्राणी उनके निर्गुण शरीर में ही लीन हो जाते हैं।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।

रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

हे पार्थ! आसक्तियों में डूबकर यही जीव-जगत् ब्रह्माजी के दिन के आरंभ में उनके निर्गुण शरीर से उत्पन्न होता है और उनकी रात के समय उन्हीं में विलीन हो जाता है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।

यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

परंतु ब्रह्माजी के निर्गुण शरीर के अतिरिक्त जो सर्वश्रेष्ठ, नाशहीन और अनन्य परमेश्वर हैं, वे सारी सृष्टि के विनाश के बाद भी नष्ट नहीं होते। वे शाश्वत रहते हैं, क्योंकि वे ब्रह्माजी की सृष्टि से परे की चीज हैं।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहु परमां गतिम् ।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

हे अर्जुन! जिस धाम में जाकर जीव पुनर्जन्म के बंधन से मुक्त हो जाता है, वह जीव की परम गति है। वही धाम मेरा सर्वश्रेष्ठ रूप है, जिसे अक्षर (अनश्वर) और अव्यक्त भी कहा जाता है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।

यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

पार्थ! जिस परमेश्वर के निर्गुण शरीर में सारे प्राणी और यह संसार समाहित है, वे परमेश्वर सृष्टि के कण-कण में व्याप्त हैं। उन्हें केवल अनन्य भक्ति द्वारा ही पाया जा सकता है।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।

प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

हे भरतवंशी अर्जुन! अब मैं तुम्हें उन मार्गों (काल) के विषय में बताता हूँ जिन पर शरीर त्यागने से योगी को पुनर्जन्म लेना पड़ता है अथवा उसे मोक्ष मिल जाता है और जीवन-मृत्यु से मुक्ति हो जाती है।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

जिस समय धरती पर अग्निदेव, दिन के देवता, शुक्ल पक्ष (उजले दिन) के देवता तथा उत्तरायण के देवता का अधिकार होता है, उस काल में शरीर त्यागनेवाले निष्काम योगी ब्रह्मलोक में जाते हैं, जिन्हें ये देवता ही क्रमशः ब्रह्मलोक तक पहुँचाते हैं। ब्रह्माजी की आयु तक ये ब्रह्मलोक में रहते हैं, फिर उन्हीं के साथ परमेश्वर में विलीन

हो जाते हैं।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।

तत्र चाद्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥२५॥

जिस समय धरती पर अँधेरे के देवता, रात्रि के देवता, कृष्ण पक्ष (काले दिन) के देवता तथा दक्षिणायन के देवता का अधिकार होता है, उस काल में शरीर त्यागनेवाले सकाम लोग अपने पुण्य कर्मों के अनुसार स्वर्ग के सुख भोगकर पुनः पृथ्वी पर जन्म लेते हैं। अर्थात् उनका जन्म-मरण लगा रहता है।

शुक्लकृष्णो गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।

एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥२६॥

प्राणियों की गति दो प्रकार की कही गई हैं—शुक्ल या देवमार्गी और कृष्ण या पितृमार्गी। हे अर्जुन! इनमें से शुक्ल मार्ग में शरीर त्यागने वाले व्यक्ति जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाते हैं, जबकि कृष्णमार्गी को फिर-फिर संसार में जीवन-मृत्यु के चक्र में जुतना पड़ता है।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥२७॥

हे पृथानंदन! इन दोनों मार्गों की सच्चाई जानने के बाद योगी पुरुष क्षणभंगुर सांसारिक सुखों के प्रति कभी मोहग्रस्त नहीं होता। इसलिए हे अर्जुन! तुम भी केवल मुझे पाने का प्रयत्न करो। इससे तुम्हें समदृष्टि प्राप्त होगी।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।

अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥२८॥

निष्काम योगी जानते हैं कि यज्ञ, तप, व्रत, दान, तीर्थ आदि पुण्य कर्मों से अधिकतम ब्रह्मलोक ही मिल सकता है। वहाँ से पुनः संसार में पुनर्जन्म लेना पड़ता है, अतः वे इन सबसे ऊपर उठकर परमपिता परमेश्वर की निष्काम भक्ति करते हैं, जिससे कि पुनर्जन्म के फेर से मुक्त होकर वे सदा-सदा के लिए परमेश्वर में विलीन हो जाएँ।

॥ अक्षरब्रह्मयोग नामक आठवाँ अध्याय समाप्त ॥



राजविद्याराजगुह्ययोग

श्री भगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।

ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

अध्याय ७ में भगवान् ने ज्ञान-विज्ञान विषयक वार्तालाप अधूरा छोड़ दिया था, क्योंकि आठवें अध्याय के आरंभ में वे अर्जुन की जिज्ञासा शांत करने लगे थे। इस अध्याय में वे पुनः अपने पुराने विषय पर लौटते हुए बोले— अर्जुन! तुम मेरे अनन्य भक्त हो। इसलिए मैं उस गोपनीय ज्ञान-विज्ञान का तुम्हारे लिए फिर से वर्णन करूँगा, जिसे जानकर व अपनाकर तुम पुनर्जन्म के चक्र से सदा के लिए मुक्त होकर मुझमें विलीन हो जाओगे।

राजविद्या राजगुं पवित्रमिदमुत्तमम् ।

प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥

यह ज्ञान-विज्ञान सभी विद्याओं तथा सारे सांसारिक रहस्यों का राजा है। यह ज्ञान अति पवित्र, श्रेष्ठ, धर्ममय और अक्षर अविनाशी है। यह प्रत्यक्ष फल प्रदान करता है और प्राप्त करने में भी अति सुगम है।

अश्रद्धानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युंसारवर्त्मनि ॥३॥

हे अर्जुन! इस ज्ञान-विज्ञान में श्रद्धा नहीं रखनेवाले प्राणी बार-बार संसार में लौटकर जीवन-मृत्यु के चक्र में फँसे रहते हैं।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।

भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

जड़ और चेतन—सारा जगत् मेरे निर्गुण स्वरूप में विद्यमान है। सारे जीव मुझमें समाए हैं, लेकिन मैं उनमें समाहित नहीं हूँ तथा जीव भी मुझमें समाहित नहीं हैं। मेरी इस क्षमता को देखो, अर्जुन। मैं सभी जीवों को जन्म देता हूँ, उन्हें आश्रय देता, उन्हें पालता हूँ; किंतु उनके आश्रित नहीं हूँ। अर्थात् जीव परमात्मा से जन्म लेकर उनके ही आश्रित होते हैं, लेकिन आसक्ति के कारण वे परमात्मा में रहकर भी उनमें स्थित नहीं रहते और पुनर्जन्म के चक्र में

फँसे रहते हैं।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायु सर्वत्रगो महान्।

तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

जैसे सभी दिशाओं में विचरण करने के बाद भी वायु आकाश में ही केंद्रित रहती है, वैसे ही सभी जीव मुझमें लिप्त रहते हैं। अर्थात् परमात्मा में ही यह चराचर जगत् लिप्त है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।

कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

हे कुंतीनंदन! ब्रह्माजी के सौ वर्ष पूरे होने पर वे जीवों और अपनी प्रकृति सहित मुझमें लीन हो जाते हैं और महाप्रलय हो जाती है। और कल्प के आरंभ में मैं ब्रह्माजी के साथ-साथ सारे चराचर जगत् की रचना करता हूँ।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।

भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

प्रत्येक कल्प के आरंभ में मैं अपनी प्रकृति को लेकर ही प्राणियों के पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार प्राणी-जगत् की बार-बार रचना करता हूँ।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।

उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

हे धनंजय! सृष्टि-रचना के सारे कार्य मैं अनासक्त भाव और उदासीनता से, केवल अकर्ता भाव से करता हूँ। इसलिए ये सभी कर्म मुझे मोह-माया से नहीं बाँधते।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

कौन्तेय! मेरे नेतृत्व की सर्वोच्च शक्ति से ही यह प्रकृति इस चराचर जगत् की रचना करती है और इसी कारणवश यह सृष्टि-चक्र घूम रहा है। लोग जन्म लेते हैं, फिर मर जाते हैं। फिर नए शरीर के साथ जन्म लेते हैं और मर जाते हैं।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

हे अर्जुन! अज्ञानी लोग आसक्तियों में डूबकर मेरे परमेश्वर स्वरूप से अपरिचित रहते हैं और मुझे अपनी तरह सामान्य मनुष्य मानकर मेरी अवहेलना करते हैं।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।

राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

जो लोग अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृति का सहारा लेते हैं, ऐसे अज्ञानी लोगों की सभी सांसारिक कामनाएँ व्यर्थ हैं; उनके सभी शुभ कर्म और ज्ञान निष्फल होते हैं। सकाम कर्म के कारण उन्हें इनका शुभ फल प्राप्त नहीं होता और वे हमेशा मोहग्रस्त रहते हैं।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

परंतु हे पृथानंदन! निष्काम योगी पुरुष, जिनकी परमेश्वर में अपार श्रद्धा है, वे मुझे ही सभी जीवों का आरंभ और अंत मानते हैं तथा हमेशा मेरा ही चिंतन, मनन और स्मरण करते हैं।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।

नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

जिन्हें मुझ पर विश्वास है, वे ज्ञानीजन हमेशा दृढ़ भक्ति-भाव, भावनात्मक प्रेम, श्रद्धा और भक्तिपूर्वक मेरा भजन, कीर्तन, चिंतन, मनन, स्मरण और पूजन करते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।

एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

लोग अनेक प्रकार से मेरी उपासना करते हैं। ज्ञानीजन अपने विकारों को त्यागकर मेरी उपासना करते हैं। कुछ लोग सेवक भाव से तन-मन-धन द्वारा संसार को ही मेरा विराट् रूप मानकर उसकी सेवा करते हैं। तभी तो कहा गया है, जनता की सेवा जनार्दन की सेवा।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।

मत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।

वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

गतिर्भर्ता प्रभु साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

हे अर्जुन! वैदिक रीति से किया जानेवाला कार्य क्रतु में हूँ। यज्ञ, स्वधा (पितरों के लिए अर्पित अन्न), औषध, मंत्र, घृत, अग्नि, हवन, पवित्र ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद भी मैं ही हूँ। इस चराचर जगत् का पिता, धारणकर्ता, माता, पितामह, कर्मफलदाता, भरणकर्ता, ईश्वर, शुभ-अशुभ देखनेवाला, निवास-स्थान, आश्रय, सबका

निस्स्वार्थ हितकर्ता, उत्पत्ति, प्रलय, भंडार तथा अनश्वर बीज भी मैं ही हूँ।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।

अमुं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

हे अर्जुन! संसार के कल्याण के लिए मैं अनेक रूप रखता हूँ। मैं ही सूर्य के रूप में पृथ्वी को ऊष्मा और प्रकाश देता हूँ। जल को पहले ग्रहण करता हूँ, फिर उसे वर्षा के रूप में पृथ्वी को वापस कर देता हूँ। अमृत, मृत्यु, सत्य और असत्य भी मैं ही हूँ।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।

ते पुण्यमासाद्य सुरेद्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥

ज्ञानीजन पृथ्वी के सुखों से ऊबकर स्वर्ग के सुखों की चाह करने लगते हैं। इसके लिए वे वेदों के अनुसार यज्ञ, हवन और धार्मिक अनुष्ठान करके इंद्र के रूप में मेरा ही पूजन करते हैं और मेरी ही कृपा से स्वर्ग के सुखों का उपभोग करते हैं।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।

एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

स्वर्ग के सुखों का उपभोग करके पुण्य समाप्त होने पर वे पुनः पृथ्वी लोक में आ जाते हैं। इस प्रकार, वेदों में वर्णित आसक्तिपूर्ण धर्म का सहारा लेकर जो लोग सुखों की कामना करते हैं, वे जन्म-मरण के चक्र में उलझे रहते हैं। अर्थात् पुण्य बढ़ने पर स्वर्ग जाते हैं और उनकी समाप्ति पर वापस धरती पर जन्म ले लेते हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

मेरे जो आसक्तिहीन भक्त निरंतर मेरा चिंतन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन्हें अप्राप्त वस्तु प्रदान करने तथा उसकी रक्षा करने का भार मैं स्वयं उठाता हूँ।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

हे कुंतीनंदन! जो लोग आस्थावान् भक्त की तरह अन्य देवताओं की उपासना करते हैं, वे भी वास्तव में मेरी ही उपासना करते हैं। परंतु अज्ञान के कारण वे उन देवताओं को मुझसे अलग समझते हैं।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।

न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

जबकि सभी यज्ञ, हवन, दान, तीर्थ, जप, तप आदि का ग्रहणकर्ता और फलदाता मैं ही हूँ। लेकिन वे मेरे

वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते, इसलिए जीवन-मृत्यु के भँवर में फँसे रहते हैं।

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

किसी इच्छा के साथ अपने अभीष्ट देवताओं की पूजा करनेवाले लोग मृत्यु के बाद उन्हीं देवताओं के लोक में जाते हैं। पितरों की उपासना करनेवाले लोग पितृलोक में जाते हैं, भूत-प्रेतों का भजन-पूजन करनेवाले लोग भूत-प्रेतों के लोक में जाते हैं। लेकिन मेरी उपासना करनेवाले मेरे निष्काम भक्त मोक्ष पाकर मुझमें ही विलीन हो जाते हैं। अर्थात् फिर कभी उनका जन्म नहीं होता।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

मेरा निष्काम भक्त प्रेमपूर्वक, श्रद्धाभाव से मुझे पत्र, पुष्प, जल इत्यादि जो भी अर्पित करता है, मैं उसे आनंदपूर्वक ग्रहण करता हूँ और भक्त की सभी इच्छाएँ पूरी कर देता हूँ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

हे कुंतीपुत्र अर्जुन! तुम अपने सभी कर्म, भोग, यज्ञ, दान, व्रत, ध्यान, भजन, तप आदि कार्य-कलाप—सब मुझे अर्पित कर दो।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।

संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

इस प्रकार, सबकुछ मुझे समर्पित करके शुभ-अशुभ कर्मफल और कर्म-बंधन से पूरी तरह मुक्त होकर तुम निष्काम संन्यासी की भाँति मुझमें लीन हो जाओगे।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

अर्जुन! मेरे लिए सभी प्राणी एक समान हैं। न कोई मेरा प्रिय है, न किसी से मुझे वैर है। परंतु जो लोग निष्काम भाव से प्रेमपूर्वक मेरा स्मरण करते हैं, वे और मैं एक ही हैं। अर्थात् मेरा अनन्य भक्त मेरा ही अंश रूप हो जाता है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

यदि कोई आचरणहीन दुष्ट व्यक्ति भी यह दृढ़ निश्चय कर लेता है कि अब वह श्रद्धापूर्वक मेरी भक्ति करेगा तो उसे सज्जन पुरुष समझना चाहिए। क्योंकि उसका यह निश्चय सच्चे अंतर्मन से उपजता है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।

कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

मेरा ऐसा भक्त जल्दी ही धर्मात्मा अर्थात् पवित्र हो जाता है और उसे निर्मल एवं स्थायी शांति मिल जाती है। उसके मन के संदेह समाप्त हो जाते हैं। हे कुंतीनन्दन! मेरे भक्त के रूप में तुम प्रतिज्ञापूर्वक यह अपने मन में बिठा लो कि मेरे भक्त का कभी विनाश नहीं होता। अर्थात् भक्त यदि प्रतिज्ञापूर्वक अपने ईश्वर में विश्वास करे तो ईश्वर उसके विश्वास को कभी नहीं तोड़ते।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु पापयोनयः ।

त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

हे पृथानन्दन! मेरी शरण में आनेवाले प्रत्येक प्राणी को परम गति मिलती है; वे चाहे किसी भी वर्ण की त्रियाँ, पुरुष अथवा जीव-जंतु हों। पापी जीव भी मेरी शरण में आकर तर जाते हैं। फिर धर्मात्मा ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि मेरे भक्त मेरी शरण में आकर न तरे—इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है। इसलिए अर्जुन, इस नाशवान् शरीर का मोह त्यागकर तुम मेरा चिंतन करो।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि युक्तुवैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

हे अर्जुन! तुम मेरे भक्त के रूप में केवल मेरा ही भजन, पूजन और वंदन करो। इस प्रकार, अनन्य भाव से अपने आपको मुझे अर्पित करके तुम मुझे पा लोगे। अर्थात् भक्त जैसे ही 'मैं' भाव का त्याग करता है, वह भगवान् को पा लेता है। 'मैं' की समाप्ति से उसे समदृष्टि मिलती है और वह परमेश्वर को पा लेता है।

॥ राजविद्याराजगुह्ययोग नामक नौवाँ अध्याय समाप्त ॥



विभूतियोग

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।

यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

श्री भगवान् बोले—हे महाबाहो अर्जुन! क्योंकि तुम मेरे अनन्य प्रेमी भक्त हो, इसलिए तुम्हारे कल्याण के लिए मैं कुछ और बातें बताता हूँ। उन्हें ध्यानपूर्वक सुनो।

न मे विदु सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।

अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

मेरे अवतार और लीलाओं के बारे में देवता और ऋषि-मुनि आदि भी नहीं जानते। क्योंकि उन सभी को मैंने ही उत्पन्न किया है। मैं ही उन्हें बुद्धि, ज्ञान और देवत्व देता हूँ। अतः अपने सीमित ज्ञान द्वारा वे मुझ अनंत ईश्वर को नहीं जान सकते—जो उनके पहले भी था और बाद में भी होगा। मैं उन सभी देवताओं और महर्षियों का आदि (आरंभ) हूँ।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।

असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापै प्रमुच्यते ॥३॥

जो मनुष्य दृढ़ता और विश्वासपूर्वक मुझे जन्मरहित (अजन्मा), आरंभ और अंतरहित तथा सारे लोकों का परमेश्वर मानता है, वह सभी मनुष्यों में श्रेष्ठ, ज्ञानवान् और निष्पाप हो जाता है।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।

सुखं दुखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह (अनासक्ति), क्षमा, सत्य, दम (इंद्रियों को वश में करना), शम (मन को वश में करना), सुख, दुख, उत्पत्ति, विनाश, भय, अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश तथा अपयश—जीवों में ये अलग-अलग बीस भाव मुझसे ही जन्म लेते हैं।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।

मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

सात महर्षि, चार सनकादि मुनिगण तथा चौदह मनु—ये सभी मेरे मन से उत्पन्न हुए हैं। इनकी मुझमें दृढ़ श्रद्धा होती है; संसार के सभी प्राणी इन्हीं से उत्पन्न हुए हैं।

सात महर्षि हैं—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलह, क्रतु, पुलस्त्य और वसिष्ठ। कुछ ग्रंथों में गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप और अत्रि को सप्तर्षि कहा गया है। सनकादि ऋषिगण हैं—सनक, सनंदन, सनातन और सनत्कुमार। चौदह मनु हैं—स्वायंभुव, स्वरोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि और इंद्रसावर्णि।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

जो व्यक्ति मेरे इस स्वरूप को जानता है और स्वयं को दृढ़तापूर्वक उसमें अर्पित कर देता है, वह भक्तियोग में डूबकर मेरा सच्चा भक्त बन जाता है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

हे अर्जुन! इस चराचर जगत् की उत्पत्ति का मूल कारण मैं ही हूँ और मेरी शक्ति से ही यह सारा जगत् सारे क्रिया-कलाप करता है—जो लोग मेरे ऐसे स्वरूप में आस्था रखते हैं, वे ज्ञानी होते हैं और मेरे परम भक्तों में स्थान पाते हैं।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥

जो भक्त मेरे गुण, प्रभाव और स्वभाव को जानते, समझते और मानते हैं, वे सब प्रकार से संतुष्ट होकर मेरे प्रेम में आनंदित रहते हैं और सदैव मेरे हृदय में वास करते हैं।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

जो लोग अपने सारे कार्यों को मेरे भरोसे छोड़कर निरंतर मेरा चिंतन, भजन और कीर्तन करते हैं, उन्हें मैं ऐसी निर्मल बुद्धि देता हूँ कि वे सुख-दुख, लाभ-हानि, आदर-निरादर, स्तुति-निंदा आदि में समदृष्टि रखते हैं और मुझमें दृढ़ विश्वास रखते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

हे अर्जुन! उनके कल्याण के लिए मैं उनके अंतर्मन में वास करता हूँ और उनके अज्ञान रूपी अँधेरे को अपने ज्ञान रूपी दीपक से समाप्त कर देता हूँ।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।

पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥१२॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिनारदस्तथा।

असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥१३॥

अर्जुन बोले—हे श्रीकृष्ण! आप परम ब्रह्म, परम धाम, सबसे पवित्र, शाश्वत, दिव्य पुरुष, आदिदेव, अजन्मे और सर्वव्यापक हैं। सभी ऋषिगण, देवर्षि नारद, असित, देवल तथा व्यासजी भी यही कहते हैं। आप स्वयं भी मुझसे यही कह रहे हैं।

सर्वमेतदृ मन्ये यन्मां वदसि केशव।

न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥१४॥

हे केशव! आपने जो भी कहा है, मुझे उस पर दृढ़ विश्वास है। भगवन्! आपके लीलामय स्वरूप को कोई नहीं समझ सकता—न देवता, न दानव, न मनुष्य।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।

भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥१५॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।

याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥१६॥

हे भूतभावन (सभी प्राणियों के जन्मदाता)! हे भूतेश (सभी जीवों और देवताओं के स्वामी)! हे देवदेव! हे जगत्पति (सारे जगत् के पालनकर्ता)! हे पुरुषोत्तम! आपके सिवा आपको और कोई नहीं जान सकता। इसलिए अपने जिन-जिन दिव्य स्वरूपों द्वारा आप अपनी इस सृष्टि की रचना करते हैं, उसका वर्णन केवल आप ही भली-भाँति कर सकते हैं।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।

केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥१७॥

हे योगेश्वर! सदा आपके चिंतन, मनन और स्मरण में डूबकर मैं आपके दिव्य स्वरूप को अधिक-से-अधिक कैसे जान सकता हूँ? भगवन्! मैं आपका स्मरण कहाँ-कहाँ कर सकता हूँ?

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।

भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

हे जनार्दन! आप अपनी क्षमता और दिव्य स्वरूपों के बारे में विस्तार से बताएँ, क्योंकि आपकी अमृतमयी वाणी सुनकर आपके बारे में मेरी जिज्ञासा बढ़ती ही जा रही है।

श्री भगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।

प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

भगवान् बोले—हे अर्जुन! मेरे अनंत दिव्य स्वरूप हैं। तुम्हारी जिज्ञासा को शांत करने के लिए मैं संक्षेप में उनका वर्णन करूँगा।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

हे गुडाकेश (नींद को जीत लेनेवाला)! सभी जीवों के शरीर को चलानेवाला आत्मा, उनका आरंभ, मध्य और अंत मैं ही हूँ। अर्थात् सबकुछ भगवान् ही हैं, उनके सिवा दूसरी कोई शक्ति नहीं है।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।

मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

अदिति के पुत्रों में विष्णु (वामन), प्रकाशित वस्तुओं में सूर्य, मरुत देवों (वायुदेवों) का ओज और नक्षत्रों का राजा चंद्रमा मैं ही हूँ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।

इंद्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

मैं वेदों में सामवेद, देवगण में इंद्र, इंद्रियों में मन और प्राणियों में जीवन-शक्ति हूँ।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।

वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

रुद्रों में शंकर, यक्ष तथा राक्षसों में धन का राजा कुबेर, वसु देवताओं में अग्नि तथा उच्च शिखरवाले पर्वतों में सुमेरु हूँ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।

सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

हे पार्थ! मैं श्रेष्ठ पुरोहितों में देवगुरु बृहस्पति, सेनापतियों में देवताओं का सेनापति कार्तिकेय और जलाशयों में

समुद्र हूँ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्येकमक्षरम्।

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥२५॥

मैं ही महर्षियों में भृगु, शब्दों में एक अक्षरी महामंत्र 'ॐ' (प्रणव या ओंकार), सभी प्रकार के यज्ञों में जपयज्ञ और स्थिर वस्तुओं में हिमालय पर्वत हूँ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।

गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥२६॥

मैं सब वृक्षों में पीपल, देवर्षियों में नारद, गंधर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि हूँ।

उच्चैश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।

ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥२७॥

घोड़ों में समुद्र-मंथन के समय अमृत के साथ निकला उच्चैश्रवा घोड़ा, श्रेष्ठ हाथियों में सर्वश्रेष्ठ हाथी ऐरावत तथा मनुष्यों में राजा मेरे ही दिव्य स्वरूप हैं।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।

प्रजनश्चास्मि कन्दर्पं सर्पाणामस्मि वासुकिः॥२८॥

मैं ही श्रेष्ठ अत्रों में वज्र, गायों में कामधेनु, धर्मानुसार संतान उत्पन्न करनेवाला कामदेव और सर्पों में सर्पराज वासुकि हूँ।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।

पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥२९॥

नागों में शेषनाग, जलचरों का राजा वरुण, पितृगण में अर्यमा और शासकों में यमराज मेरे ही दिव्य स्वरूप हैं।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।

मृगाणां च मृगेद्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥३०॥

दैत्यों में प्रह्लाद, समय की गणना करनेवालों का समय, पशुओं में सिंह और पक्षियों में गरुड़ मेरे ही स्वरूप हैं।

पवनः पवतामस्मि रामः शत्रुभृतामहम्।

झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥३१॥

पवित्र करनेवाली वस्तुओं में वायु, श्रेष्ठ शत्रुधारियों में राम, जलचरों में मगरमच्छ तथा नदियों में पवित्र गंगा मैं

ही हूँ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।

अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥३२॥

हे अर्जुन! बार-बार होनेवाली सृष्टि की उत्पत्ति, मध्य और अंत में भी केवल मैं ही स्थित हूँ। मैं ही विद्याओं में सर्वश्रेष्ठ विद्या—ब्रह्मविद्या तथा धार्मिक चर्चा करनेवालों का निष्पक्ष तर्क या निर्णय हूँ।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्रढः सामासिकस्य च।

अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥३३॥

अक्षरों में अकार (अ), समासों में द्रढ समास, कभी समाप्त न होनेवाला काल अर्थात् काल का महाकाल तथा अनेक मुखों से सब ओर देखते हुए सबका पालन-पोषण करनेवाला हूँ।

मृत्यु सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।

कीर्ति श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥३४॥

मैं ही मुक्तिदायक मृत्यु तथा भावी जीवन हूँ। त्रियों में कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।

मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥३५॥

गाए जानेवाले मंत्रों में बृहत्साम, छंदों में गायत्री छंद, बारह महीनों में मार्गशीर्ष तथा छह ऋतुओं में वसंत मेरे ही स्वरूप हैं।

द्यौं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।

जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥३६॥

मैं ही छली-कपटी लोगों में जुआ, तेजस्वियों में उनका तेज, जीतने वालों की विजय, निश्चयी लोगों का निश्चय और सात्त्विक या निर्मल लोगों में उनका सात्त्विक भाव या निर्मलता हूँ।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।

मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥३७॥

वृष्णि वंश के लोगों में वासुदेव अर्थात् तुम्हारा मित्र मैं स्वयं, पांडवों में धनञ्जय अर्थात् तुम, मुनियों में वेदव्यास तथा कवियों में कवि शुक्राचार्य भी मैं ही हूँ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।

मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥३८॥

दमन करनेवालों की शक्ति अर्थात् उनका दंड, विजय चाहने वालों की विजय-नीति, गुप्त भावों में मौन और ज्ञानीजन में उनका ज्ञान मैं ही हूँ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।

न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूँ चराचरम्॥३९॥

हे अर्जुन! जिस बीज से सभी जीवों की उत्पत्ति होती है, वह मैं ही हूँ। चराचर जगत् में मेरे बिना किसी की सृष्टि संभव नहीं है। इसलिए चर-अचर सबका एकमात्र कारण मैं ही हूँ।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।

एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥४०॥

इस प्रकार, हे परंतप अर्जुन! मेरे अंतहीन दिव्य स्वरूप हैं। तुम्हारी जिज्ञासा को शांत करने के लिए उनमें से कुछ स्वरूपों का मैंने यहाँ संक्षेप में वर्णन किया है।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम्॥४१॥

इसलिए तुम यह समझ लो कि जितनी भी विलक्षण, कांतिपूर्ण, शोभायमान, सौंदर्यपूर्ण वस्तुएँ हैं, उनमें मेरा ही दिव्य तेज समाया है।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥४२॥

अथवा हे मेरे प्यारे भक्त! तुम्हें मेरे बारे में इतना सबकुछ जानने की क्या आवश्यकता आन पड़ी है? तुम तो केवल इतना भर जान लो कि यह सारा जगत्, यह अनंत ब्रह्मांड मेरे केवल एक अंश या एक केश में समाया है।

॥ विभूतियोग नामक दसवाँ अध्याय समाप्त ॥



विश्वरूप-दर्शनयोग

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।

यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

अर्जुन बोले—हे मोहन! आपने कृपा करके मुझे अध्यात्म से संबंधित जो गोपनीय ज्ञान दिया उससे मेरे मोह, आसक्ति और अज्ञान समाप्त हो गए हैं।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।

त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

क्योंकि हे कमलनयन! आपने मुझे सभी प्राणियों की उत्पत्ति और विनाश के विषय में विस्तार से बताया है; अपने अविनाशी रूप की महिमा भी बताई है।

एवमेतद्यथा त्वमात्मानं परमेश्वर ।

द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥

हे पुरुषोत्तम! आपने अपने बारे में जो भी बताया, उसे मैं सत्य मानता हूँ। इसलिए हे परमेश्वर! मैं आपके उसी सर्वोच्च, तेजस्वी स्वरूप के दर्शन करना चाहता हूँ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।

योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

हे प्रभु! आप मुझे अपने उस दिव्य दर्शन के योग्य समझते हैं तो हे योगेश्वर! कृपया मुझे अपने उस परम अविनाशी स्वरूप के दर्शन करवा दीजिए।

श्री भगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

श्री भगवान् बोले—हे पार्थ! तुम्हारी उत्सुकता को शांत करने के लिए अब मैं अपने अनेक प्रकार के, अनेक वर्णों तथा आकृतियोंवाले सहस्रों दिव्य स्वरूप दिखाता हूँ; इन्हें देखो।

पश्यादित्यान्वसूत्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।

बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥

हे भरतवंशी अर्जुन! मुझमें समाए बारह आदित्यों, आठ वसुओं, ग्यारह रुद्रों, दो अश्विनीकुमारों तथा उनचास मरुद्गणों को देखो। साथ ही, ऐसे बहुत से आश्चर्यजनक रूपों को भी, जिन्हें तुमने पहले कभी नहीं देखा होगा।

बारह आदित्य हैं : धाता, मित्र, अर्यमा, शुक्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु।

आठ वसु : धर, ध्रुव, सोम, अनिल, अहः, प्रत्यूष, अनल और प्रभास।

ग्यारह रुद्र : त्र्यंबक, हर, बहुरूप, अपराजित, वृषाकपि, शंभु, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, शर्व और कपाली।

दो अश्विनीकुमार : दस्र और नासत्य।

उनचास मरुद्गण : सत्त्वज्योति, सत्यज्योति, आदित्य, तिर्यग्ज्योति, सज्योति, ज्योतिष्मान्, हरित, ऋतजित्, सत्यजित्, सुषेण, धर्ता, विधर्ता, विधारय, ध्वांत, धुनि, उग्र, भीम, अभियु, सेनजित्, सत्यमित्र, अभिमित्र, हरिमित्र, कृत, सत्य, ध्रुव, साक्षिप, ईदृक्त्व, अन्यादृक्त्व, यादृक्त्व, प्रतिकृत्, ऋक्त्व, समिति, संरंभ, ईदृक्ष, पुरुष, अन्यादृक्ष, चेतस, समिता, समिदृक्ष, प्रतिदृक्ष, मरुति, सरत, देव, दिश, यजु, अनुदृक्त्व, साम, मानुष और विश्।

इहैकस्थं जगतकृष्णं पश्याद्य सचराचरम् ।

मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

हे गुडाकेश अर्जुन! मेरे शरीर के एक अंश में स्थित चराचर सहित सारे जगत् को भी देखो। इसके अलावा कुछ और देखना हो तो वह भी देख लो।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।

दिव्यं ददामि ते चक्षु पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

परंतु इन साधारण आँखों से तुम मेरे वास्तविक स्वरूप को नहीं देख सकते। इसलिए मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि प्रदान करता हूँ, जिससे कि तुम मेरे ईश्वरीय रूप को देख सको।

यहाँ, इस श्लोक से भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि प्रदान की।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।

दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥

संजय बोले—हे राजन् (धृतराष्ट्र)! यह कहकर महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने विराट् दैवी स्वरूप के दर्शन करवाए। यह कहकर संजय धृतराष्ट्र को भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य रूप के बारे में बताने लगे। उन्हें भी वेदव्यासजी ने दिव्य दृष्टि प्रदान की थी। अतः अर्जुन के साथ उन्हें भी भगवान् के विराट् रूप के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

अनेकवत्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।

अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।

सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

जिनके अनेक मुख और नेत्र हैं; अनगिनत अद्भुत दर्शन और अलौकिक आभूषण हैं; हाथों में अनेक दिव्य आयुध धारण किए, गले में दिव्य मालाएँ हैं। जो अलौकिक वस्त्र पहने हैं; जिनके ललाट तथा शरीर पर सुंथित चंदन, कुंकुम आदि लगे हैं—भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना ऐसा अनंत रूपी परम दिव्य स्वरूप दिखाया।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।

यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

उस समय वहाँ तेज आलोक फैल गया। यदि एक साथ सहस्रों सूर्य प्रकट हो जाएँ तो उनका सामूहिक प्रकाश भी भगवान् श्रीकृष्ण के उस दिव्य तेज की बराबरी नहीं कर सकता था।

तत्रैकस्थं जगतकृष्णं प्रविभक्तमनेकधा ।

अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

उस समय अर्जुन को भगवान् के शरीर के एक अंश में विभिन्न विभागों में बँटा सारा जगत् दिखाई दिया।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।

प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

भगवान् के उस दिव्य विश्वरूप को देखकर अर्जुन आश्चर्य से रोमांचित हो उठे। वे सिर को श्रद्धा से झुकाए हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए बोले।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वास्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।

ब्रह्माण्मीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

अर्जुन बोले—हे परम देव! मुझे आपके शरीर में सभी देवगण, प्राणियों के विशिष्ट समुदाय, कमल पर बैठे ब्रह्माजी, शिवजी, सभी ऋषि-मुनि और दिव्य सर्प अपने-अपने कार्य में रत दिखाई दे रहे हैं।

अनेकबाहूदरवत्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

हे विश्वरूप! हे विश्वेश्वर! आपके अनगिनत हाथ, अनगिनत उदर, अनगिनत मुख, अनगिनत नेत्र और अनगिनत रूप हैं। आपका न तो कोई आरंभ है, न मध्य, न अंत।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।

पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥१७॥

आप मुकुट, गदा, चक्र, शंख और कमल धारण किए हैं। आप तेज युक्त, चारों तरफ से प्रकाशित, सूर्य के समान उज्ज्वल और अनंत रूपी हैं, जिन्हें नेत्रों से देखना बहुत कठिन है।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।

त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥१८॥

मेरा मानना है कि आप ही जानने योग्य परब्रह्म परमेश्वर, चराचर जगत् के अंतिम आश्रयस्थल, सनातन धर्म के रक्षक और अविनाशी सनातन पुरुष हैं।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।

पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवत्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥१९॥

मैं देख रहा हूँ कि आप आरंभ, मध्य और अंतहीन; तेजवान्; अनेक भुजाओंवाले; चंद्र एवं सूर्य के समान नेत्रोंवाले; लपटों के समान मुखवाले तथा अपने तेज से संसार को तपानेवाले हैं।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वा।

दृष्ट्वाद्भुं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥२०॥

हे महात्मन्! स्वर्ग और पृथ्वी के बीच के रिक्त आकाश और सभी दिशाओं में केवल आप ही दिखाई दे रहे हैं। आपके इस दिव्य और प्रंड रूप को देखकर तीनों लोक बहुत व्याकुल हो रहे हैं।

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।

स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥२१॥

जो देवगण मुझे स्वर्ग में मिले थे, वे आपके स्वरूप में प्रवेश कर रहे हैं। कुछ तो आपके उग्र रूप से भयभीत होकर आपकी स्तुति करने लगे हैं। अनेक ऋषि, मुनि और सिद्ध पुरुष भी जन-कल्याण हेतु उत्तम मंत्रों द्वारा आपका पूजन, मनन और चिंतन कर रहे हैं।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।

गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥२२॥

ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, बारह साध्यगण, दस विश्वेदेव, दो अश्विनीकुमार, उनचास मरुद्गण, सात पितृगण तथा गंधर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों के समुदाय चकित खड़े आपको देख रहे हैं।

बारह साध्यगण हैं : मन, अनुंता, प्राण, नर, यान, चित्ति, हय, नय, हंस, नारायण, प्रभव और विभु। इन्हें गणदेवता भी कहते हैं।

दस विश्वेदेव : क्रतु, दक्ष, श्रव, सत्य, काल, काम, धुनि, कुरुवान्, प्रभवान् और रोचमान ।
सात पितृगण : कव्यवाह, अनल, सोम, यम, अर्यमा, अग्निष्वात्त और बर्हिषत् ।

रूपं महत्ते बहुवत्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।

बहूदरं बहुष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

हे महाबाहो! आपके अनगिनत मुखों, नेत्रों, भुजाओं, जंघाओं, चरणों, उदरों तथा विकराल दाँतोंवाले महा उग्र रूप को देखकर सभी प्राणियों के साथ मैं भी बहुत व्याकुल हो रहा हूँ।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।

दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

क्योंकि हे विष्णु! आपके अनेक दिव्य वर्ण हैं; आप आकाश में चारों ओर व्याप्त हैं; आपका विकराल मुख अनंत परिमाण में फैला है; आपके नेत्र अतिविशाल और प्रदीप्त हैं। आपके इस उग्रतम महारूप को देखकर मेरा मन अशांत हो रहा है। मैं धीरज खो रहा हूँ।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।

दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

आपके भयंकर मुखों और उनमें से उठती भयंकर लपटों ने मुझे अशांत कर दिया है। आपकी विशालता से सारी दिशाएँ छिप गई हैं। मेरा दिशा-ज्ञान समाप्त हो गया है। इसलिए हे परमेश्वर! हे पालनहार! आप प्रसन्न हों।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घै ।

भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यै ॥२६॥

वत्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।

केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गसः ॥२७॥

हे परमेश्वर! मैं देख रहा हूँ कि हमारे पक्ष के प्रमुख योद्धाओं के साथ-साथ धृतराष्ट्र पक्षी अनेक राजा तथा भीष्म पितामह, गुरुवर द्रोणाचार्य, कर्ण आदि और धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सभी पुत्र भी आपके विकराल मुख में समा रहे हैं। उनमें से अनेक तो आपके दाँतों के बीच में फँसे सिर, धड़-विहीन दिखाई दे रहे हैं।

यहाँ विश्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को भविष्य का संकेत देते प्रतीत हो रहे हैं। शत्रु पक्षी अधर्मी लोगों को दाँतों से चबाकर वे अर्जुन को संदेश दे रहे हैं कि युद्ध में विजय धर्म की, अर्थात् अर्जुन की होगी।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।

तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वत्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

जैसे नदियाँ स्वाभाविक रूप से समुद्र की ओर बहकर उसी में समा जाती हैं, वैसे ही संसार के सभी योद्धा मानो

आपके प्रदीप्त मुखों में समाने के लिए होड़ कर रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।

तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वत्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

जैसे कीट-पतंगे मोहग्रस्त होकर अपने नाश के लिए स्वयं ही तेजी से उड़कर अग्नि में समा जाते हैं, उसी प्रकार ये सभी योद्धा भी मोहवश अपने विनाश के लिए बड़ी तेजी से आपके प्रज्वलित मुखों में समा रहे हैं।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।

तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

आप लपटोंवाले मुखों से सभी प्राणियों को चबा रहे हैं। कोई बचने की कोशिश करता है तो जीभ से उसे लपेटे में ले लेते हैं। हे विष्णु! आपका दहकता तेज सारे जगत् को तपा रहा है।

यहाँ भगवान् के कालस्वरूप का वर्णन करते हुए यह दर्शाया गया है कि भगवान् के कालरूप से कोई भी प्राणी नहीं बच सकता।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।

विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

अर्जुन आगे कहते हैं—हे देवों में श्रेष्ठ! आपका रूप उग्र भी दिखता है और सौम्य भी। आखिर आप हैं कौन? आपको बार-बार नमन। आप प्रसन्न होएँ। हे ईश्वर! मैं आपके वास्तविक स्वरूप को जानना चाहता हूँ, क्योंकि मैं आपके इस स्वरूप को बिलकुल नहीं जानता कि आप यहाँ क्यों प्रकटे हैं?

श्री भगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

तब श्री भगवान् बोले—मैं सभी प्राणियों का अंत करनेवाला महाभयंकर महाकाल हूँ और इस समय दोनों सेनाओं का नाश करने के लिए यहाँ आया हूँ। इसलिए हे अर्जुन! तुम युद्ध नहीं करोगे तो भी तुम्हारे शत्रु पक्षी योद्धा जीवित नहीं बचेंगे।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुक्त्व राज्यं समृद्धम् ।

मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

इसलिए तुम युद्ध करो और जो निश्चित ही मेरे द्वारा मरनेवाले हैं, उन्हें मारकर यश प्राप्त करो और सुखपूर्वक राज्य भोगो। हे सव्यसाची! तुम इनकी मृत्यु का केवल माध्यम मात्र बन जाओ।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।

मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥३४॥

हे अर्जुन! द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य योद्धाओं को तो मैंने पहले ही मार दिया है, इसलिए तुम व्याकुलता छोड़कर युद्ध करो। इस युद्ध में तुम्हारी विजय निश्चित है।

भगवान् अर्जुन को समझाना चाहते थे कि जो उनके द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं, अर्जुन को केवल उनकी मृत्यु का माध्यम भर बनना है। अतः उन्हें पाप-पुण्य, जीत-हार का विचार छोड़कर केवल अपने कर्म पर ध्यान देना चाहिए।

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।

नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥३५॥

संजय बोले—भगवान् श्रीकृष्ण की बात सुनकर भय से काँपते मुकुटधारी अर्जुन ने हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया और गद्गद स्वर में बोले।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।

रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः॥३६॥

अर्जुन बोले—हे अंतर्यामी परमेश्वर! आपके नाम, गुण और लीला का भजन-कीर्तन करने से यह चराचर जगत् आनंदित होकर आपके प्रेम में डूबा जा रहा है। इससे भयभीत होकर राक्षस लोग सभी दिशाओं में भागे जा रहे हैं और संत-महात्मा लोग आपकी स्तुति कर रहे हैं। यह सब ठीक ही है, क्योंकि आपकी शरण में पहुँचा जीव आनंद ही पाता है।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।

अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥३७॥

हे महात्मन्! आप गुरुजन के भी गुरु और ब्रह्माजी के भी पूर्वज हैं। इसलिए संत-महात्मा आपके प्रति आदर प्रकट करें, यह ठीक ही है। क्योंकि हे देवेश्वर! हे जगन्निवास! आप ही अक्षर (नाशहीन) ब्रह्म हैं; आप ही सत्, असत् तथा उससे परे की सत्ता हैं।

तात्पर्य यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही सर्वोच्च सत्ता हैं। उनसे बढ़कर कोई हो ही नहीं सकता।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।

वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥३८॥

आप हमेशा से थे और हमेशा रहेंगे, इसलिए आप देवताओं के आदिपूर्वज और पुराण-पुरुष हैं। संसार की सारी क्रियाएँ आपसे आरंभ होती हैं और आप में ही उनका अंत हो जाता है। इसलिए आप ही इस चराचर जगत् के परम आश्रय और परम धाम हैं। आपसे कुछ भी नहीं छिपा। भूत, वर्तमान और भविष्य—आप सब जानते हैं। इसलिए आप सर्वज्ञ हैं। चूँकि आप सबकुछ जानते हैं, इसलिए संत, महात्मा आदि लोग आपको जानने का प्रयास करते हैं;

क्योंकि आपको जानकर ही संसार को जाना जा सकता है। आप अनंत रूपी हैं और इस जगत् के कण-कण में समाए हैं।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

हे परमेश्वर! आप ही वायुदेव, यमराज, अग्निदेव, वरुणदेव, चंद्रमा, दक्ष प्रजापति और ब्रह्माजी के पिता हैं। आपके ऐसे अनंत रूप हैं। आपको बारंबार नमस्कार! सहस्रों नमस्कार!

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।

अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्व समाप्नोषि ततोऽसि सर्व ॥४०॥

हे परम शक्तिशाली परमेश्वर! आपके अनंत रूपों को हर ओर से बारंबार नमस्कार। आपने इस चराचर जगत् को अपने शरीर के एक अंश में समेट रखा है, इसलिए सबके संरक्षक और संहारक आप ही हैं।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।

अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।

एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तक्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

आपकी इस महिमा से अनजान होने के कारण मैंने आपको अपना मित्र मानते हुए कभी प्रेम से तो कभी हठपूर्वक —‘हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे!’ इत्यादि कहा। हे अनंतरूप प्रभु! प्रहसन में, चलते-फिरते, सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, अकेले में अथवा मित्रों के सामने मैंने कभी आपका अनादर किया हो तो उसके लिए कृपया आप मुझे क्षमा कर दें।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

आप ही परम पूजनीय, गुरुओं के गुरु और इस चराचर जगत् के परम पिता परमेश्वर हैं। हे अनंत रूपधारी भगवन्! तीनों लोकों में आपके बराबर भी दूसरा कोई नहीं है, फिर श्रेष्ठ तो कोई कैसे हो सकता है!

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीडयम् ।

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्यु प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

इसलिए भगवन्! साष्टांग प्रणाम करके मैं आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ। जैसे पिता—पुत्र के; मित्र—मित्र के और पति—पत्नी के अपमान, तिरस्कार आदि को सहकर उन्हें प्रेमपूर्वक क्षमा कर देते हैं, मेरी विनती है कि आप भी मेरे अपमानों को वैसे ही सहकर मुझे क्षमा करने की कृपा करें।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।

तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

आपने अपना यह लौकिक रूप दिखाकर मुझ पर बड़ी कृपा की। भगवन्! मैं प्रसन्न भी हूँ और भय से व्याकुल भी। मेरी विनती है कि आप अपने सौम्य देव रूप के दर्शन देकर मुझे धन्य कीजिए। हे परमेश्वर! आप प्रसन्न होइए, प्रसन्न होइए।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

मैं चाहता हूँ कि आप मुकुट, गदा और सुदर्शन चक्र धारण किए अपने चतुर्भुज विष्णु रूप के दर्शन करवाएँ। इसलिए हे महाबाहो! आप शंख, चक्र, गदा और कमलधारी अपना चतुर्भुज रूप दिखाइए।

श्री भगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।

तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

श्री भगवान् बोले—हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर तुम्हें अपना यह अनन्य, श्रेष्ठ, तेजोमय विराट् रूप दिखाया है। इसे तुम्हारे अतिरिक्त पहले किसी ने भी नहीं देखा है।

भगवान् अर्जुन को समझाना चाहते थे कि वे प्रसन्न होकर अपना वह लौकिक रूप दिखा रहे थे, उन्हें डराने के लिए नहीं। इसलिए वे (अर्जुन) यह न सोचें कि वे (भगवान्) अप्रसन्न हैं।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रै।

एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

हे कुरुश्रेष्ठ! धरती पर मेरा यह विश्वरूप वेद-पाठ से, यज्ञ-अनुष्ठान से, शात्र-अध्ययन से, दान-पुण्य से, उग्र तप से अथवा शुभ कार्यों आदि से नहीं देखा जा सकता। इसे केवल तुम्हारे जैसे मेरे कृपापात्र ही देख सकते हैं।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।

व्यपेतभी प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

इसलिए अर्जुन! मेरा यह उग्रतम विराट् रूप देखकर तुम्हें भयभीत या व्याकुल नहीं होना चाहिए था। लेकिन अब तुम्हारी इच्छानुसार मैं तुम्हें अपना सौम्य चतुर्भुज रूप दिखाता हूँ। इसे तुम ठीक से देख लो।

इस श्लोक तक अर्जुन की दिव्य दृष्टि रही, जो अगले श्लोक के आरंभ में समाप्त हो गई।

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।

आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

संजय बोले—यह कहकर भगवान् वासुदेव ने अर्जुन को अपना चतुर्भुज विष्णु रूप दिखाया और उन्हें आश्वस्त करके कुछ देर बाद वापस अपने सौम्य मनुष्य रूप में लौट आए।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।

इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

भगवान् के मानव स्वरूप को देखकर अर्जुन बोले—हे जनार्दन! आपके इस सौम्य रूप को देखकर मेरा मन शांत हो गया और मैं वापस अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ गया हूँ।

श्री भगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।

देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाक्षिणः ॥५२॥

श्री भगवान् बोले—अर्जुन! तुमने मेरे जिस चतुर्भुज रूप के दर्शन किए हैं, वे अत्यंत दुर्लभ हैं। मेरे इस रूप के दर्शन देवताओं के लिए भी दुर्लभ हैं।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।

शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

वेद-पाठ, तप, दान, यज्ञ, धर्म-कर्म आदि किसी भी अनुष्ठान द्वारा मेरा वह चतुर्भुज रूप नहीं देखा जा सकता है। अर्थात् श्री भगवान् स्पष्ट करना चाहते थे कि केवल उनकी कृपा होने पर ही उनका वह अनन्य रूप देखा जा सकता था और अर्जुन को वे अपना प्रिय भक्त एवं सखा मानने थे, इसलिए उन्हें ये दर्शन सुलभ हुए थे।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

परंतु हे परंतप अर्जुन! केवल अनन्य भक्ति, श्रद्धा और समर्पण द्वारा ही लोग मेरे वास्तविक स्वरूप के दर्शन कर सकते हैं। मैं उनके लिए सदा-सर्वदा सुलभ रहता हूँ।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

हे पांडव! मेरा जो भक्त अपने सारे कर्म मेरे लिए ही करता है, जो आसक्ति-रहित है; किसी भी प्राणी से वैरभाव नहीं रखता; मन, कर्म, वचन से मेरा चिंतन, मनन और स्मरण करता है, वह भक्त सरलता से मुझे पा लेता है।

॥ विश्वरूप दर्शनयोग नामक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ॥



भक्तियोग

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।

ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

अर्जुन बोले—हे भगवन्! कुछ भक्त सदा आपके सगुण-साकार रूप का ध्यान करते हैं तथा कुछ निर्गुण-निराकार (अक्षर) स्वरूप की उपासना करते हैं। इन दोनों में से कौन श्रेष्ठ उपासक है?

श्री भगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

श्री भगवान् बोले—जो भक्त श्रद्धापूर्वक समर्पित भाव से मेरे सगुण-साकार स्वरूप की उपासना करते हैं, मेरी दृष्टि में वे ही सर्वश्रेष्ठ उपासक और योगी हैं।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।

सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

संनियम्येन्द्रियगामं सर्वत्र समबुद्धयः ।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

किंतु जो लोग अपनी इंद्रियों को वश में करके—उस निर्विकार, अचल, अविनाशी, निराकार, नित्य, मन-बुद्धि से परे तथा सारी सृष्टि में व्याप्त परमात्मा की उपासना करते हैं और जो परहित के लिए सदैव तत्पर रहते हैं, वे निश्चित ही मुझे पा लेते हैं।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

निर्गुण परमात्मा का ध्यान करनेवाले साधकों को अधिक कष्ट झेलना पड़ता है, क्योंकि शरीरधारी मनुष्य को पहले अपनी आसक्तियों का त्याग करके अपने शरीर का मोह छोड़ना पड़ता है, उसके बाद निराकार ब्रह्म में ध्यान केंद्रित करना पड़ता है, जो एक बड़े तप के समान है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युंसारसागरात् ।

भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

हे पार्थ! जो भक्त अपने सभी कर्म—मेरे द्वारा, मेरे लिए—इस भावना से करते हैं और हर स्थिति में, हर स्थान पर मेरा ही चिंतन, मनन और स्मरण करते हैं, मैं अपने ऐसे भक्तों को इस मृत्युलोक से मुक्त कर देता हूँ। अर्थात् उन्हें जन्म-मरण से मुक्ति मिल जाती है और वे मोक्ष पा लेते हैं।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

इसलिए हे अर्जुन! तुम्हारे लिए यही श्रेष्ठ है कि तुम मन, कर्म, वचन और बुद्धि से मेरी बातों पर ध्यान दो। फिर निस्देह तुम मुझमें लीन होकर जन्म-मृत्यु के बंधन से पार पा लोगे।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।

अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥९॥

यदि तुम्हारा मन एकाग्र भाव से मेरी भक्ति में न लगे तो हे धनंजय! तुम अभ्यास योग अर्थात् भजन-कीर्तन, चिंतन-मनन द्वारा मुझे पाने का प्रयास करो।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

किंतु यदि तुम अभ्यास योग भी नहीं कर सकते तो केवल मेरे लिए ही कर्म करो—यह सोचकर कि भगवान् ही कर्म करनेवाले हैं और सभी कर्म उनके लिए ही किए जा रहे हैं। यह करके भी तुम मुझे पा सकते हो।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।

सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

और यदि तुम मेरे लिए कर्म भी नहीं कर सकते तो अपनी सभी इंद्रियों और मन को वश में करके अपनी इच्छानुसार जो भी कर्म करो, उसके फल की कामना को त्याग दो। अर्थात् जब कर्म-मोह, आसक्ति-रहित हो जाएँगे तो मन स्वतः ही भगवान् में रम जाएगा।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ञानाब्ध्यानं विशिष्यते ।

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

हे अर्जुन! बिना सोचे-विचारे किए जानेवाले अभ्यास से ज्ञान उत्तम है, ज्ञान से मेरा ध्यान उत्तम है और ध्यान से कर्मफल की इच्छा का त्याग उत्तम है; क्योंकि त्याग से शीघ्र ही परम शांति अर्थात् मुझ भगवान् को पाया जा सकता है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।

निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

चराचर जगत् से प्रेम करनेवाला, द्वेष-रहित, ममता-रहित, अहंकार-रहित, सुख-दुःख में समान, क्षमाशील, दयालु, संतुष्ट, योगी, इंद्रियों को वश में रखनेवाला तथा दृढ़तापूर्वक मेरे चरणों में अर्पित भक्त मुझे प्यारा है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।

हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

जो व्यक्ति किसी पर भी क्रोध नहीं करता, दूसरे लोग भी उसकी किसी बात पर क्रुद्ध नहीं होते; जो हर्ष, ईर्ष्या, भय और मनोवेगों से पूरी तरह मुक्त है, वह भक्त मुझे प्यारा है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।

सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

जिसे किसी प्रकार की इच्छा न हो; जो शरीर और मन से पवित्र हो; जो पक्षपात-रहित, दुःख-सुख में सम हो और भोग एवं संग्रह के लिए नए-नए कर्मों का आरंभ नहीं करता, वह भक्त मुझे प्यारा है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काक्षति ।

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

जो व्यक्ति ईर्ष्या, राग, द्वेष, शोक, हर्ष, कामना, कर्मों की शुभता-अशुभता आदि में सदा अनासक्त रहता है, वह भक्त मुझे प्यारा है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयो ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मोनी संतुष्टो येन केनचित् ।

अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

जो व्यक्ति शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सदी-गरमी और सुख-दुःख को समान समझता है; जो आसक्ति-रहित,

मननशील, सदा संतुष्ट रहने वाला, मोह-रहित तथा परमेश्वर में आस्था रखनेवाला है, वह भक्तिवान् मनुष्य मुझे प्यारा है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।

श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

परंतु हे अर्जुन! जो आस्थावान् भक्त एकनिष्ठ भाव से केवल मेरा ही चिंतन, भजन, मनन और कीर्तन करते हैं तथा जैसा मैं कहता हूँ वैसा ही करते हैं, वे मुझे सबसे अधिक प्रिय हैं।

॥ भक्तियोग नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त ॥



क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभाग योग

श्री भगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहु क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

श्री भगवान् बोले—हे कुंतीपुत्र अर्जुन! ज्ञानी लोग इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं तथा जो इस शरीर रूपी क्षेत्र को जानता है, उसे क्षेत्रज्ञ या जीवात्मा कहते हैं। शरीर को क्षेत्र इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह पल-पल क्षीण होता जाता है। कुछ ज्ञानीजन इसे खेत भी कहते हैं। जैसे खेत में बीज डालने से फसल होती है, वैसे ही मानव-शरीर से मोह-आसक्ति करके जीवात्मा तरह-तरह के अच्छे-बुरे कर्म करता है और उन्हीं के अनुसार अगला जन्म पाता है।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

हे भरतवंशी अर्जुन! तुम मुझे संपूर्ण क्षेत्रों (शरीरों) का क्षेत्रज्ञ (शरीरों को जाननेवाला जीवात्मा) समझो। और मैं समझता हूँ कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ से संबंधित ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है।

तक्षेत्रं यच्च यादृक्त्त च यद्विकारि यतश्च यत् ।

स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥

अर्जुन! अब मैं तुम्हें उस क्षेत्र की उत्पत्ति, गुण, दोष, स्वरूप, स्वभाव तथा उस क्षेत्रज्ञ के स्वरूप और प्रभाव के बारे में संक्षेप में बताता हूँ।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधै पृथक् ।

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥

ऋषि-मुनियों ने क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ तत्त्व के बारे में अपने-अपने ग्रंथों में विस्तार से लिखा है। वेद-मंत्रों तथा ब्रह्मसूत्र के पदों द्वारा भी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का अलग-अलग वर्णन किया गया है।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।

इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥

हे अर्जुन! यह क्षेत्र (शरीर) चौबीस तत्त्वों से मिलकर बना है। ये तत्त्व हैं—मूल प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, पाँच महाभूत (पंच तत्त्व), दस इंद्रियाँ, मन तथा पाँचों इंद्रियों के पाँच विषय—चौबीस तत्त्वों का यह समूह ही क्षेत्र है।

चौबीस तत्त्व हैं—मूल प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, पृथ्वी, जल, तेज (अग्नि), वायु, आकाश, आँख, कान, त्वचा, जीभ, नाक, वाक्, हाथ, पैर, उपस्थ, पायु, मन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध।

इच्छा द्वेषः सुखं दुखं संघातश्चेतना धृतिः ।

एतक्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

इस क्षेत्र में—इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, शरीर, चेतना (प्राण-शक्ति) तथा धृति (धैर्य या धारणा) आदि विकार पाए जाते हैं। इन विकारों में चौबीस तत्त्वों से बने शरीर को भी शामिल किया गया है। क्योंकि ज्ञानीजन कहते हैं कि शरीर का जन्म लेना, सत्ता रूप में दिखना और उसमें क्षण-क्षण परिवर्तन होते रहना भी विकार है।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।

आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥

बड़प्पन और दिखावे से दूर होना; अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरु-सेवा, शरीर और मन की शुद्धि, धैर्य तथा मन पर नियंत्रण रखना—इस प्रकार भीतरी और बाहरी शुद्धि संभव है।

आगे के श्लोकों में भी भगवान् ने भीतरी और बाहरी शुद्धि के उपाय बताए हैं।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।

जन्ममृत्युजराव्याधिरुदोषानुदर्शनम् ॥८॥

सभी प्रकार की आसक्तियों और अहंकार से दूरी रखकर जीवन, मरण, बुढ़ापे तथा बीमारियों में होनेवाले दुख के कारणों पर बार-बार विचार करना चाहिए। इससे भोगों से मनुष्य को विरक्ति होने लगती है, जो कि दुखों के सबसे बड़े कारण हैं।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।

नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥

सांसारिक पदार्थों से मोह, ममता और आसक्ति न रखना; सांसारिक रिश्ते-नातों से घनिष्टता न रखना; सुख-दुख, लाभ-हानि आदि में न तो दुखी होना, न प्रसन्न; बल्कि हर परिस्थिति में स्वयं को समदृष्टि बनाए रखना—यह ईश्वर-प्राप्ति का साधन है।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।

विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

केवल भगवान् से संबंध रखना, भगवान् से ही माँगना और उन्हीं को अर्पित कर देना; एकांत में उनका भजन-कीर्तन, चिंतन-मनन करना; सांसारिक बातों और नातों में अनासक्ति—ये सब शरीर शुद्धि के अचूक उपाय हैं।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

कहा गया है कि—धर्म-शास्त्रों के पठन-पाठन, भजन-कीर्तन, महापुरुषों से धर्मज्ञान पर चर्चा में डूबे रहना तथा सब में परमेश्वर को देखना—यह सब ज्ञान है; इसके अतिरिक्त सबकुछ अज्ञान है।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ञात्वामृतमश्नुते ।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

हे अर्जुन! अब मैं तुम्हें उसके बारे में बताऊँगा जिसके बारे में सबको जानना जरूरी है। उसे जानने के बाद मनुष्य परम आनंद से भर जाता है। वह जानने योग्य तत्त्व परम ब्रह्म है। जो सदा रहनेवाला—अक्षर (नाशहीन) तत्त्व है। वह सत् और असत् से परे है।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

वे परमात्मा परम ब्रह्म—अनेक हाथों, पैरों, नेत्रों, कानों, सिरों तथा मुखोंवाले हैं। वे संसार की रचना करके इसमें स्थित हैं।

सर्वेद्रियगुणाभासं सर्वेद्रियविवर्जितम् ।

असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

वे परमात्मा, परम ब्रह्म—इंद्रियहीन हैं, फिर भी इंद्रियों के सभी विषयों को जानते हैं और उन्हें ग्रहण करते हैं। वे चर-अचर सभी को प्रेम करते हैं, लेकिन आसक्तिहीन हैं। अनासक्त होने पर भी वे सभी जीवों का पालन-पोषण करते हैं। वे परम ब्रह्म निर्गुण या गुणों से परे हैं, फिर भी भक्तों के सभी गुणों (सत्, रज, तम) को ग्रहण करते हैं।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।

सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

वे परमात्मा सभी प्राणियों में बसते हैं। चर-अचर (सजीव-निर्जीव) भी वे ही हैं। वे दूर-पास, ऊपर-नीचे—चारों ओर बसते हैं, लेकिन अतिसूक्ष्म होने के कारण हर कोई उन्हें जान नहीं सकता।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।

भूतभर्तृ च तज्ञेयं गसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

उन परमेश्वर को टुकड़ों में नहीं बाँटा जा सकता है, लेकिन प्रकृति के जीवन हेतु वे सजीव-निर्जीव सभी में अंश-रूप में बाँटे हुए हैं। वे ही ब्रह्माजी के रूप में सबको उत्पन्न करते हैं, विष्णुजी के रूप में सबका पालन-पोषण करते हैं और शिवजी के रूप में सबका अंत करते हैं।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥१७॥

वे परमेश्वर—जितना भी ज्ञान है, उसमें सर्वोच्च हैं। किसी भी दशा में अज्ञान उनको छू भी नहीं सकता। वे ज्ञान की साकार मूर्ति हैं और अवश्य जानने योग्य (ज्ञेय) हैं। केवल ज्ञान से ही उन्हें जाना सकता है। वे परमेश्वर सबके मन में बसते हैं।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥१८॥

इस प्रकार, मैंने क्षेत्र या शरीर (श्लोक ५ एवं ६), ज्ञान (श्लोक ७ से ११) तथा ज्ञेय या जानने योग्य (श्लोक १२ से १७) के बारे में संक्षेप में बताया है। जो जीव इनकी वास्तविकता समझ जाता है, वह मुझे पा लेता है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥१९॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतु प्रकृतिरुच्यते ।

पुरुषः सुखदुखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥२०॥

प्रकृति (जड़) और पुरुष (चेतन)—ये दोनों ही अनादि या आरंभहीन हैं। इनका कभी अंत नहीं होता। विकार, गुण, कार्य और जिसके द्वारा कार्य पूरा होता है वे करण : ये सभी प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। और पुरुष या चेतन या जीवात्मा इनसे उत्पन्न दुख-सुख को भोगता है। प्रकृति या जड़ में दुख-सुख को महसूस करने की अनुभूति नहीं होती।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजानुणान् ।

कारणं गुणसङ्गाह्यऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥२१॥

इस जड़ प्रकृति में स्थित चेतन पुरुष ही जड़ प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले सुख-दुख आदि गुणों को भोगता है। यही वे गुण हैं जो चेतन पुरुष को श्रेष्ठ या निम्न योनि में जन्म लेने के योग्य बनाते हैं।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥२२॥

यह पुरुष या चेतन जब शरीर या क्षेत्र से संबंध बनाता है तो 'उपद्रष्टा'; शरीर को किसी काम की सहमति, आज्ञा देता है तो 'अनुन्ता'; अन्न-जल आदि से शरीर का पोषण-संरक्षण करता है तो 'भर्ता'; शरीर के सुख-दुख, मोह-आसक्ति को भोगता है तो 'भोक्ता' और स्वयं को शरीर का मालिक मानता है तो 'महेश्वर' कहलाता है। परंतु वास्तव में यह पुरुष या चेतन या जीवात्मा—परमात्मा ही है। यह शरीर में रहता है, उसे चेतन रखता है, उसके सारे क्रिया-कलापों का उपभोग करता है, लेकिन उससे बिलकुल अनासक्त, पृथक् रहता है।

यहाँ पुरुष (जीवात्मा) को 'उपद्रष्टा', 'अनुन्ता' आदि अलग-अलग नामों से पुकारा गया है; लेकिन इनका अर्थ

एक ही है। जैसे एक ही व्यक्ति किसी का पति, पिता, भाई, चाचा, मामा आदि हो सकता है, उसी प्रकार अलग-अलग नामों से पुकारा जानेवाला पुरुष भी वास्तव में एक ही है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणै सह ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

इस प्रकार जो व्यक्ति पुरुष और प्रकृति की वास्तविकता को जानता है, वह अपने सभी काम कर्तव्य समझकर करता है और जीवन-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।

अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

लोग अलग-अलग रास्तों से परमात्मा तक पहुँचते हैं। कोई ध्यान योग द्वारा, कोई सांख्य (संन्यास) योग द्वारा तथा कोई कर्मयोग द्वारा। ये सभी परमात्मा को पाने के स्वतंत्र और अचूक मार्ग हैं।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।

तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

जो लोग ध्यानयोग, सांख्ययोग अथवा कर्मयोग के बारे में नहीं जानते, वे संत-महात्माओं से परमात्मा के विषय में केवल सुनकर ही उनकी उपासना करते हैं। ऐसे लोग भी जीवन-मृत्यु के चक्र से छूट जाते हैं।

यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

हे अर्जुन! संसार में सजीव और निर्जीव जितने भी पदार्थ जन्म लेते हैं, वे केवल क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) के मिलन से ही उत्पन्न होते हैं।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

शरीर हर समय नष्ट होता रहता है, लेकिन उसमें रहनेवाले जीवात्मा या परमेश्वर सदा एक-से रहते हैं। ऐसे ही सभी प्राणी जन्म लेते हैं और मर जाते हैं, लेकिन परमात्मा हर स्थिति में ज्यों-के-त्यों स्थित रहते हैं। इस प्रकार, जो व्यक्ति नष्ट होते प्राणियों में परमात्मा को अक्षर-अविनाशी तथा समभाव से स्थित देखता है, वही सच (यथार्थ) देखता है।

समं पश्यन्ति सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।

न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

क्योंकि हे अर्जुन! जो व्यक्ति चराचर में एक ही परमेश्वर को समभाव से स्थित देखता है, वह आसक्तियों में

पड़कर जीवन-मृत्यु के चक्कर में नहीं फँसता। अर्थात् वह अपना ध्यान परमात्मा में लगाता है, फलतः उसे पा लेता है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।

यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

जो यह जानता-समझता है कि संसार की सभी क्रियाएँ प्रकृति द्वारा होती हैं, इसमें जीवात्मा का हाथ नहीं होता। जीवात्मा केवल अकर्ता है—यह भाव रखनेवाला ही यथार्थ सत्य देखता है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥३०॥

जब साधक—पशु, पक्षियों, मनुष्य आदि सभी प्राणियों को एक ही परमात्मा में केंद्रित देखने लगता है और उन परमात्मा में ही उन प्राणियों को फलता-फूलता देखता है तो उस स्थिति में वह परब्रह्म परमेश्वर को पा लेता है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

हे वुंक्ततीनंदन! यह जीवात्मा अनादि (आरंभ-रहित) और निर्गुण होने के कारण अक्षर (अविनाशी) परमात्मा का ही स्वरूप है। यह शरीर में रहते हुए भी न तो कर्म करता है, न उनका उपभोग करता है।

यथा सर्वगतं सौष्यादाकाशं नोपलिप्यते ।

सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

जैसे आकाश हर ओर फैला होता है, लेकिन सूक्ष्म और निराकार होने के कारण वह कहीं भी लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सूक्ष्म और निराकार जीवात्मा भी सब में व्याप्त होने के बाद भी किसी में लिप्त नहीं होता।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।

क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

हे अर्जुन! जैसे एक ही सूर्य इस पूरे जगत् को प्रकाशित करता है, वैसे ही एक ही क्षेत्रज्ञ (आत्मा) सारे क्षेत्र (सजीव-निर्जीव) को प्रकाशित करता है, अर्थात् उनमें बसकर अकर्ता भाव से उनके क्रिया-कलाप करवाता है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।

भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

इस प्रकार, जो साधक क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, कार्य-कारण तथा प्रकृति की वास्तविकता को ज्ञान और विवेक का प्रयोग करके जान-समझ लेते हैं और स्वयं सदैव अकर्ता, अनासक्त बनकर सभी कर्म कर्तव्य-भाव से करते हैं, वे साधक-संत निश्चित ही परम ब्रह्म परमात्मा को पा लेते हैं।

॥ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त ॥



गुणत्रयविभाग योग

श्री भगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।

यज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—अर्जुन! तुम्हारे भले के लिए मैं उस ज्ञान के बारे में फिर से बताता हूँ, जो सभी ज्ञानों में सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्तम है। जिसका पालन करके बहुत से संत-महात्मा जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होकर परमेश्वर में लीन हो गए हैं।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

इस ज्ञान को अपनाकर और इसका पालन करके जो साधक मेरी तरह अकर्ता, अनासक्त और विकारहीन हो जाते हैं, ऐसे ज्ञानीजन न तो सृष्टि के आरंभ में पैदा होते हैं, न उन्हें महाप्रलय में किसी प्रकार का कष्ट होता है। अर्थात् वे जीवन-मृत्यु से छुटकारा पाकर परमेश्वर में लीन हो जाते हैं।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।

सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥

हे अर्जुन! मेरी मूल प्रकृति (यह जड़ जगत्) सभी प्राणियों का जन्मस्थल या गर्भ-धारण का स्थान है। यहाँ मैं जीवात्मा के रूप में चेतन गर्भ की स्थापना करता हूँ। जड़-चेतन के इस मिलन से ही सभी प्राणियों का जन्म होता है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

हे कुंतीनंदन! इस संसार में लाखों योनियों में जितने भी प्राणी जन्म लेते हैं, मूल प्रकृति उनकी माता है और मैं बीज रोपनेवाला उनका पिता हूँ।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।

निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

हे महाबाहो! इस मूल प्रकृति से सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण पैदा होते हैं, जो जीवात्मा को शरीर के मोह में

जकड़ लेते हैं।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।

सुखसङ्गह्यन बध्नाति ज्ञानसङ्गह्यन चानघ॥६॥

हे निष्पाप अर्जुन! इन तीनों गुणों में सत्त्व गुण निर्मल, स्वच्छ और विकारहीन होने के कारण जीवात्मा को सुख और ज्ञान के मोह में फँसाता है।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।

तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गह्यन देहिनम्॥७॥

हे कुंतीनंदन! रजोगुण मोह या राग का ही एक दूसरा रूप है। यह आसक्तियों और इच्छाओं को पैदा करता है। यह जीवात्मा को कर्म और कर्मफल के प्रति मोहित करता है।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।

प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥८॥

और हे अर्जुन! सभी मनुष्यों को मोहित करनेवाला तमोगुण सबसे बुरा होता है। यह मूर्खता से पैदा होता है जो जीवात्मा को भम, अभिमान, छल, प्रंच, आलस्य, निद्रा आदि जैसे दुर्गुणों से जकड़ लेता है।

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।

ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥९॥

हे भरतवंशी अर्जुन! सत्त्वगुण सुख के मोह में फँसाकर मनुष्य को अपने वश में करता है। रजोगुण कर्म और उसके फल के लालच से मनुष्य को अपने जाल में फँसाता है। किंतु तमोगुण पहले मनुष्य के सारे ज्ञान और विवेक को हर लेता है, फिर दुर्गुणों के भँवर में फँसाकर उसे अपने वश में करता है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।

रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥१०॥

हे अर्जुन! रजोगुण की लोभ, अशांति, भोग, संग्रह आदि जैसी वृत्तियों और तमोगुण की आलस्य, मूर्खता, लालच आदि जैसी वृत्तियों को दबाकर सत्त्वगुण बढ़ता है; और सत्त्वगुण की निर्मलता, स्वच्छता, उदारता, वैराग्य आदि जैसी वृत्तियों एवं तमोगुण की सभी वृत्तियों को दबाकर रजोगुण बढ़ता है; वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण बढ़ता है। अर्थात् मनुष्य में जो गुण या अवगुण बढ़ते हैं, उनकी प्रधानता हो जाती है और वे शेष गुण-अवगुण पर भारी हो जाते हैं।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।

ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृत् सत्त्वमित्युत॥११॥

जब किसी मनुष्य के अंतःकरण के साथ-साथ उसकी सभी इंद्रियों में ज्ञान, चेतना, प्रकाश और विवेक उत्पन्न हो जाता है तो वह मनुष्य सतोगुणी होता है।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।

रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥१२॥

हे अर्जुन! जिसमें लोभ, अशांति, सुख पाने के लिए कर्म करना, कामना आदि दुर्गुण बढ़े-चढ़े हों तो वह व्यक्ति रजोगुणी होता है।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।

तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥१३॥

हे कुरुनन्दन! मूर्खता, आलस्य, बुरी आदतें, कामनाएँ, मोह, लोभ, लालसा आदि जैसी वृत्तियोंवाला व्यक्ति तमोगुणी होता है।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।

तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥१४॥

सतोगुणी व्यक्ति मृत्यु के बाद उत्तम दिव्य लोकों में स्थान पाता है। यहाँ तक कि रजोगुणी और तमोगुणी व्यक्ति भी यदि सतोगुण की वृद्धि में प्राण त्यागें तो उन्हें भी उत्तम लोकों में स्थान मिलता है।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गेषु जायते।

तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥१५॥

इसी प्रकार, रजोगुणी व्यक्ति या मृत्यु के समय रजोगुण की प्रधानता होने पर मरनेवाले को फिर से मनुष्य लोक में जन्म मिलता है, जबकि तमोगुणी या तमोगुण के बढ़ने पर मरनेवाला व्यक्ति कीट-पतंगों, पशु-पक्षियों आदि जैसी नीच योनियों में जन्म लेता है।

कर्मणः सुकृतस्याहु सात्त्विकं निर्मलं फलम्।

रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥१६॥

उत्तम कर्मों का फल शुभदायी और सात्त्विक अर्थात् सतोगुणी होता है। मध्यम कर्मों का फल दुःखदायी और क्षणिक अर्थात् रजोगुणी होता है तथा अधम कर्मों का फल मूर्खतापूर्ण और बुरा अर्थात् तमोगुणी होता है।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।

प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥१७॥

सत्त्वगुण से ज्ञान पैदा होता है, जिससे मनुष्य अच्छे कर्म करता है। रजोगुण से लोभ पैदा होता है, जिससे मनुष्य अधिक-से-अधिक पाने के लिए कैसे भी कर्म करने से नहीं चूकता, जिनका परिणाम दुःखद होता है। तमोगुण से मोह

व अज्ञान पैदा होते हैं, जिनसे सारे कर्म विवेकहीन और असामाजिक होते हैं।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

जिन लोगों के जीवन में सतोगुण की प्रधानता होती है, मृत्यु के बाद वे स्वर्ग आदि उच्च दिव्य लोक में स्थान पाते हैं। जिनके जीवन में रजोगुण की प्रधानता होती है, मृत्यु के बाद वे पुनः पृथ्वी पर मनुष्य योनि में जन्म लेते हैं। जिनके जीवन में तमोगुण की प्रधानता होती है, मृत्यु के बाद वे नरक में जाकर कष्ट भोगते हैं या पशु-पक्षी, कीट-पतंगों आदि की अधोगति में जन्म लेते हैं।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।

गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

जब विवेकशील मनुष्य यह समझ जाता है कि सभी क्रियाएँ इन तीनों गुणों के कारण ही होती हैं। वे गुण ही कर्ता हैं, मनुष्य तो केवल अकर्ता है और उसका जीवात्मा इन गुणों से परे, निर्विकार और अनासक्त है—यह समझ आते ही वह मनुष्य मुझे पा लेता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।

जन्ममृत्युजरादुखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

इन तीनों गुणों से संबंध बनाने के कारण ही मनुष्य को अलग-अलग योनियों में जन्म लेने पड़ते हैं; लेकिन जो व्यक्ति विवेक-बुद्धि का प्रयोग करके इन तीनों गुणों से कोई संबंध नहीं बनाता वह जन्म, मृत्यु और बुढ़ापे के दुखों से मुक्त होकर परमानंद प्राप्त करता है।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।

किमाचारः कथं चैतांत्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

अर्जुन बोले—हे प्रभु! जो लोग इन तीनों गुणों से मुक्त होते हैं, उनकी क्या विशेषताएँ होती हैं? उसका व्यवहार कैसा होता है? तथा इन तीनों गुणों को कैसे छोड़ा जा सकता है?

श्री भगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काक्षति ॥२२॥

तब भगवान् श्रीकृष्ण बोले—हे पांडव! जो मनुष्य गुणों से नहीं जुड़ता है, वह सतोगुण के प्रकाश या ज्ञान, रजोगुण के लोभ और तमोगुण के मोह आदि के आने या जाने पर कभी भी इनके प्रति इच्छा या द्वेष नहीं रखता; यही इन तीनों गुणों से मुक्त लोगों की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।

गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

जो गुणों में तटस्थ बना रहता है; जिसे गुण विचलित नहीं करते; जो गुणों को ही कर्ता मानकर अपने तटस्थ भाव को नहीं छोड़ता और चेष्टाहीन रहता है।

समदुखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।

तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयो ।

सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

जो व्यक्ति दुख-सुख में सम रहता है; जो कंकर, पत्थर तथा सोने को समान समझता है; जो प्रिय-अप्रिय, निंदा-स्तुति, मान-अपमान में अंतर नहीं करता; जो मित्र-शत्रु को समान मानता है और जो नए-नए कर्मों का आरंभ नहीं करता, उसे गुणों से मुक्त या गुणातीत कहते हैं।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

और जो व्यक्ति सोते-जागते, उठते-बैठते केवल मेरा ही चिंतन-मनन-स्मरण करता है, वह भी इन तीनों गुणों से मुक्त होकर परब्रह्म परमेश्वर को पाने का अधिकारी हो जाता है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

क्योंकि परब्रह्म, अविनाशी अमृत, सनातन धर्म तथा अविनाशी सुख—मुझमें ही बसते हैं। मैं और वे अभिन्न हैं। अर्थात् ब्रह्म ही श्रीकृष्ण है और श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं। इसी प्रकार, अविनाशी अमृत और भगवान् श्रीकृष्ण भी दो तत्त्व नहीं हैं, बल्कि एक ही हैं। सनातन धर्म के आधार भगवान् हैं और उनका आधार सनातन धर्म है। अक्षय सुख के आधार भगवान् हैं और उनका आधार अक्षय सुख है। अतः उनकी समर्पित भक्ति करके भी सतोगुण, तमोगुण और रजोगुण के प्रभाव से मुक्ति पाई जा सकती है। यही मुक्ति उन्हें पाने के द्वार खोलती है।

॥ गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त ॥



पुरुषोत्तमयोग

श्री भगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।

छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्वं वेद स वेदवित् ॥१॥

जो मनुष्य ऊपर बसनेवाले ऊपरी आधार—परमात्मा को, शाखा रूपी आधारवाले—ब्रह्माजी को तथा संसार रूपी अविनाशी पीपल के वृक्ष (परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण) की वास्तविकता को जानता-समझता है, वह वेदों का ज्ञानी होता है। अर्थात् वह संसार की क्षण-भंगुरता को समझता है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।

अधश्च मूलान्यनुंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

सतोगुण, तमोगुण और रजोगुण की खाद-मिट्टी से पली-बढ़ीं उस संसार रूपी वृक्ष की मोह-आसक्ति रूपी पत्तेदार शाखाएँ चारों ओर फैली हैं। मनुष्य लोक में भी सभी ओर इसकी जड़ें फैली हैं, जो कर्मों के अनुसार लोगों को मोह-आसक्ति और विषयों में बाँधती हैं।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशत्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

यह संसार रूपी वृक्ष दिखने में जैसा है, वास्तव में वैसा होता नहीं है। अर्थात् यहाँ के सुख क्षणिक हैं। जैसे नींद खुलते ही सुंदर सपना टूट जाता है, वैसे ही ज्ञान होते ही संसार से विरक्ति हो जाती है और इस संसार का न तो आरंभ है और न ही अंत। मनुष्य को नहीं मालूम कि संसार कहाँ से आरंभ हुआ और कहाँ इसका अंत होगा? फिर बेमतलब बारंबार इस संसार में निरुद्देश्य जन्म क्यों लिया जाए? इसलिए पीपल के इस वृक्ष को ज्ञान रूपी शत्रु से काटने के बाद परमेश्वर की खोज करनी चाहिए। परमेश्वर को पाने के बाद मनुष्य इस संसार में फिर लौटकर नहीं आता। उसे श्रद्धाभाव से चिंतन करना चाहिए कि जिसने इस सृष्टि की रचना की है, मैं उस परमेश्वर की शरण में हूँ।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।

द्वद्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

जो लोग मान-अपमान और मोह-ममता की भावना से मुक्त हैं; जो आसक्ति से होनेवाले दोषों से अप्रभावित रहते हैं; जो हर क्षण परमेश्वर में रमे रहते हैं; जो सभी प्रकार की कामनाओं से मुक्त हैं; जो सुख-दुख में निर्विकार रहते हैं—ऐसे संत पुरुष निश्चित ही उस अविनाशी ब्रह्म परमात्मा की शरण में स्थान पाते हैं।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्काह्य न पावकः ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

हे अर्जुन! जहाँ जाने के बाद मनुष्य जन्म-मृत्यु के बंधन से छूट जाते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता; वही मेरा परमधाम है। मेरा वह धाम स्वयंप्रकाशित है। वहाँ सूर्य, चंद्रमा और अग्नि का तेज भी फीका पड़ जाता है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

जगत् के सभी प्राणियों में जो जीवात्मा है, वह मेरा ही अविनाशी अंश है। परंतु वह जीवात्मा प्रकृति में स्थित मन और इंद्रियों के आकर्षण में फँसकर मुझे भूल जाता है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युक्रामतीश्वरः ।

गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

जैसे हवा अपने साथ गंध को बहा ले जाती है, वैसे ही यह जीवात्मा किसी शरीर को छोड़ते समय, अर्थात् किसी मनुष्य की मृत्यु के समय उसके मन सहित सभी इंद्रियों को अपने साथ लेकर नए प्राप्त हुए शरीर में चला जाता है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।

अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

मन ही जीवात्मा का आधार है। इससे ही जीवात्मा—नेत्र, नाक, कान, जीभ और त्वचा की विभिन्न क्रियाओं को जान-समझ और ग्रहण कर पाता है।

उक्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।

विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

भोगों में लिप्त रहने के कारण ही अज्ञानी लोग—शरीर छोड़ते, शरीर में स्थित या इंद्रिय-सुख भोगते—इन तीन गुणोंवाले जीवात्मा को नहीं जान पाते, फलतः बार-बार जन्म लेते हैं और बार-बार मरते हैं। सच्चे संत-महात्मा और ज्ञानीजन ही इसकी सच्चाई को जानकर इस दुखदायी स्थिति से उबर पाते हैं।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

जिन संत-महात्माओं और योगियों का एकमात्र लक्ष्य प्रभु को पाना होता है, उन्हें उनके मन में स्थित जीवात्मा में ही प्रभु के दर्शन हो जाते हैं। लेकिन जिनका अंतःकरण अशुद्ध या पापमय होता है, ऐसे अज्ञानी लोग तो प्रयत्न करने पर भी अपने जीवात्मा को नहीं जान पाते।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।

यच्चद्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥१२॥

हे अर्जुन! जिस तेज से सूर्य सारे संसार को प्रकाशित करता है, वह मेरा ही तेज है। इसी प्रकार, चंद्रमा का तेज और अग्नि की तीव्रता भी मेरे ही तेज हैं।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।

पुष्णामि चौषधी सर्वा सोमो भूत्वा रसात्मकः॥१३॥

मैं ही पृथ्वी में स्थित होकर अपनी धारण-शक्ति से जड़ और चेतन सभी प्राणियों को धारण करता हूँ और अमृतरस रूपी चंद्रमा होकर सभी वनस्पतियों, पेड़-पौधों को सुपुष्ट व उन्नत करता हूँ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥१४॥

जीवों के शरीर में जीवात्मा के रूप में रहते हुए मैं ही प्राण-अपान रूपी जठराग्नि (पेट की आग या वैश्वानर) बनकर चार प्रकार के भोजन को पचाता हूँ।

चार प्रकार का भोजन है : भोज्य—जो अन्न दाँतों से चबाकर किया जाता है; पेय—दूध, दही, शरबत आदि निगला जानेवाला अन्न; चोष्य—चूसकर खाए जानेवाले खाद्य पदार्थ जैसे आम, संतरे आदि; लेह्य—जीभ से चाटकर खाए जानेवाले पदार्थ जैसे शहद, चटनी आदि।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥१५॥

मैं ही सब जीवों के हृदय में रहता हूँ। मैं ही स्मृति और ज्ञान का दाता हूँ। मैं ही सभी प्रकार के दोषों को दूर करता हूँ। सभी वेद मुझे जानने और पाने की बात कहते हैं। और वेद मुझसे ही प्रकट हुए हैं तथा उन्हें यथार्थ रूप में केवल मैं ही जानता हूँ।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥१६॥

इस जगत् में केवल दो प्रकार के पुरुष हैं—नाशवान् (क्षर) और अविनाशी (अक्षर)। इनमें सभी जीवधारियों के जड़ शरीर को नाशवान् या क्षर कहा जाता है और चेतन आत्मा को अविनाशी या अक्षर।

यहाँ क्षर और अक्षर को भगवान् ने दो पुरुष की संज्ञा दी है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

इन दोनों में भी अक्षर यानी जीवात्मा भगवान् का ही अंश होने पर भी गुणों के प्रभाव से मोह-माया में फँस जाता है। अतः इन दोनों पुरुषों से 'उत्तम पुरुष' कहीं अधिक श्रेष्ठ है और वह केवल परमात्मा है। तीनों लोकों में स्थित होकर वही अविनाशी प्रभु इस सृष्टि का पालन-पोषण करता है।

यस्माक्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

क्योंकि मैं जड़, क्षर या नाशवान् शरीर नहीं हूँ और गुणों से युक्त अक्षर जीवात्मा भी नहीं हूँ; बल्कि इनसे भी उत्तम हूँ, इसलिए सभी लोकों तथा वेदों में मुझे 'पुरुषोत्तम' कहा गया है।

यो मामेवमसम्पूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।

स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

इस प्रकार, हे भरतवंशी अर्जुन! जो ज्ञानीजन मेरे वास्तविक स्वरूप को जानते हैं, वही मेरे पुरुषोत्तम स्वरूप को भी जान सकते हैं। केवल वे ही मेरे सच्चे भक्त हैं और सदा मेरी ही शरण में हैं। वे ज्ञानी केवल मेरा ही चिंतन करते हैं।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।

एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

हे निष्पाप अर्जुन! मैंने यह अति गोपनीय शास्त्र तुम्हें बताया है। इसे जीवन में उतारने से मनुष्य को ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनों का फल मिलता है।

॥ पुरुषोत्तमयोग नामक पंद्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥



दैवासुरसम्पद्धिभाग योग

श्री भगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

श्री भगवान् बोले—निडरता, शुद्ध अंतःकरण, ज्ञान पाने के लिए योग की शरण, दान, इंद्रियों पर नियंत्रण, यज्ञ, स्वाध्याय, कर्तव्य-पालन के लिए खुशी से दुख सहना तथा अंतर्मन की सरलता ।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।

दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं हरचापलम् ॥२॥

अहिंसा, झूठ व क्रोध से दूरी, आसक्ति व राग-द्वेष का त्याग, चुगली व तेरा-मेरा न करना, दया और करुणा, लोभ-लालच से दूरी, लज्जाशीलता, कोमलता तथा चंचलता-रहित ।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।

भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

तेज, क्षमा, धैर्य, शारीरिक शुद्धि, शत्रु-भाव का अभाव तथा मान-सम्मान की इच्छा से रहित । हे भरतवंशी अर्जुन! ये सभी दैवी संपत्ति या दैवी प्रभाववाले लोगों के लक्षण हैं ।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।

अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥४॥

हे पृथानंदन! दंभ, घमंड, अभिमान, क्रोध, कठोरता तथा अज्ञान—ये सभी आसुरी संपत्ति या आसुरी प्रभाववाले लोगों के लक्षण हैं ।

दैवी सम्पद्धिमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।

मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

इनमें दैवी संपत्ति मोक्षदायी और आसुरी संपत्ति बंधनदायी कही गई है । और अर्जुन! चूँकि तुम दैवी संपत्ति के साथ पैदा हुए हो, इसलिए चिंता मत करो ।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।

दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुं पार्थ मे शृणु ॥६॥

इस लोक में केवल दो प्रकार के प्राणी जन्म लेते हैं—दैवी तथा आसुरी। इनमें दैवी के बारे में मैं विस्तार से बता चुका हूँ। हे पार्थ! अब तुम आसुरी के बारे में सुनो।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।

न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

आसुरी स्वभाववाले प्राणी (मनुष्य) यह नहीं जानते कि उन्हें कौन सा काम करना चाहिए और किसे छोड़ना चाहिए—अर्थात् वे अपना अच्छा-बुरा नहीं समझते। इसलिए उनमें न तो शारीरिक शुद्धि होती है, न मानसिक। उनका चाल-चलन भी ठीक नहीं होता और बोलचाल में भी सच्चाई का अभाव होता है।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।

अपरस्परसम्भूं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥

उनका मानना है कि यह संसार असत्य और आधारहीन है। यहाँ ईश्वर जैसा कोई तत्त्व नहीं है। संसार तो केवल त्री-पुरुष के मिलन से जनमा है। इसलिए 'काम' ही संसार की उत्पत्ति का मुख्य कारण है। इसके सिवा और कोई कारण बताना दुनिया को ठगना है।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।

प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

जो लोग इस मत का समर्थन करते हैं और परमात्मा को नहीं मानते, वे विवेकहीन और अज्ञानी हैं। ऐसे लोग जगत् के शत्रु हैं। ऐसे लोग अपनी शक्ति को केवल संसार की हानि के लिए खर्च करते हैं।

काममाश्रित्य दुष्पू दम्भमानमदान्विताः ।

मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचित्रताः ॥१०॥

दंभ, घमंड और आसुरी नशे में चूर ऐसे लोग बड़ी-बड़ी इच्छाएँ करते हैं, जिन्हें चाहकर भी पूरा नहीं कर पाते। इसके लिए वे भ्रष्ट सिद्धांतों और नीच आचरण का सहारा लेकर संसार में जीते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।

कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

ये आसुरी लोग जीवन भर चिन्ताओं में घिरकर बारंबार मरते हैं। सुख-संपत्ति को सबकुछ माननेवाले ये लोग पदार्थों के संग्रह और उपभोग को ही सर्वोपरि मानते हैं और इनमें फँसकर अपना जीवन बेकार कर देते हैं।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।

ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

कामनाओं की बेड़ियों में जकड़े ऐसे वे लोग काम-क्रोध के अधीन होकर अपने सुख-साधन इकट्ठे करने के लिए अन्यायपूर्वक धन-संचय करने से भी नहीं चूकते।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।

इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥१३॥

वे सोचते हैं कि इतनी संपत्ति तो हमने बना ली, अब हमारी बाकी इच्छाएँ भी पूरी हो जाएँगी। इतना धन हमारे पास है ही, अब इतना हो। इस प्रकार उनकी इच्छाओं का अंत कहीं नहीं होता।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥१४॥

उस दुश्मन को हमने मार दिया, बाकी भी हमारे हाथों नहीं बचेंगे। हम ईश्वर हैं, संपन्न हैं, सिद्ध हैं, शक्ति-संपन्न हैं और सुखी हैं। इसलिए कोई हमारे बराबर नहीं हो सकता।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।

यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥१५॥

हम अमीर हैं, (इसलिए) जन-समुदाय हमारा समर्थन करता है। हम कोई साधारण मनुष्य थोड़े ही हैं। हम बड़े-बड़े (दिखावटी) यज्ञ करेंगे, दान देंगे और मौज-मजे से जीवन गुजारेंगे। इस सोच में डूबे आसुरी लोग अज्ञान से भ्रमित रहते हैं।

अनेकचित्तविभान्ता मोहजालसमावृताः।

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥१६॥

ऐसी भ्रमित कामनाओं के मोह-जाल में फँसे आसुरी लोग, जो गरदन तक भोगों और आसक्तियों में डूबे रहते हैं, मृत्यु के बाद भयंकर नरक में गिरकर भीषण कष्ट भोगते हैं।

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।

यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥१७॥

स्वयं को श्रेष्ठ और सम्मानित माननेवाले, ऐसे अहंकारी तथा धन और पद के नशे में चूर रहनेवाले वे आसुरी लोग यज्ञों को विधि-विधान से नहीं करवाते। उनके यज्ञ मात्र दिखावटी होते हैं और केवल झूठी वाहवाही बटोरने के लिए किए जाते हैं।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।

मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥१८॥

अहंकार, हठ, घमंड, कामना और क्रोध में डूबे वे मनुष्य, सबके शरीर में रहनेवाले मुझ परमात्मा को अपना शत्रु

समझते हैं; क्योंकि मैं उनके दोषों के कारण उनका समर्थन नहीं करता।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्त्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥१९॥

उन शत्रु स्वभाववाले क्रूर, नीच, पापी और अनाचारी मनुष्यों को मैं बार-बार आसुरी योनियों में ही पैदा करता हूँ। क्योंकि उनके काले कर्मों का वही फल मिल सकता है।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥२०॥

हे कुंतीनंदन! अज्ञान के कारण ऐसे लोग मुझे पाने का प्रयास नहीं करते, बल्कि अपनी शक्ति को सुख-साधन के संचय और उपभोग में लगा देते हैं, इसलिए अनेक जन्मों तक आसुरी योनियाँ भोगते हैं, फिर घोर यातना के लिए भयंकर नरकों में डाल दिए जाते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्रयं त्यजेत्॥२१॥

काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों नरक के दरवाजे हैं, जो मोह और आसक्तियों में फँसाकर जीवात्मा को भष्ट कर देते हैं, उसे दिग्भ्रमित कर देते हैं और वह श्रेष्ठ जीवात्मा काले कर्मों में लग जाता है। इसलिए इन तीनों को अपने पास तक नहीं फटकने देना चाहिए।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैर्त्रिभिर्नरः।

आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥२२॥

हे कुंतीनंदन! जो व्यक्ति काम, क्रोध और लोभ—नरक के इन तीनों दरवाजों से दूर रहते हुए आत्म-कल्याणकारी व्यवहार करता है, अर्थात् जैसा प्रभु ने बताया है वैसा आचरण करता है, वह इस संसार से मुक्त होकर भगवान् के चरणों में स्थान पाता है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥२३॥

जो लोग शास्त्रों की बातों पर ध्यान नहीं देते और अपने अहंकार की पूर्ति के लिए मनमाना आचरण करते हैं, उन्हें शुभ कर्म करने पर भी सिद्धि, सुख और भगवान् नहीं मिलते हैं।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥२४॥

इसलिए हे अर्जुन! तुम अपने कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय शास्त्रों के अनुसार करो। अर्थात्, चूँकि तुम दैवी संपत्ति

से युक्त हो, इसलिए तुम्हें कर्तव्य-कर्म के चयन के लिए शात्रों को ही आधार बनाना चाहिए।

॥ दैवासुरसम्पद्भिर्भागयोग नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त ॥



श्रद्धात्रयविभाग योग

अर्जुन उवाच

ये शात्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

पिछले अध्याय में भगवान् ने कहा था कि जो लोग शात्रों के अनुसार न चलकर मनमाने ढंग से आचरण करते हैं, उन्हें भगवान् के चरणों में स्थान नहीं मिलता। अपनी इसी शंका के समाधान के लिए अर्जुन बोले—हे कृष्ण! जो लोग शात्र-विधि के स्थान पर श्रद्धा और भक्तिभाव से भगवान् की उपासना करते हैं, उनकी भावना कैसी होती है—सतोगुणी, रजोगुणी या तमोगुणी?

श्री भगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।

सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

श्री भगवान् बोले—मनुष्य की स्वाभाविक श्रद्धा तीन प्रकार की होती है—सात्त्विक, राजसी और तामसी। यह श्रद्धा शात्रीय संस्कारों से नहीं आती है। इसके बारे में मैं तुम्हें विस्तार से बताता हूँ।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

भारत! जैसा मनुष्यों का अंतःकरण होता है, वैसी ही उनकी श्रद्धा होती है—अर्थात् यदि मनुष्यों का अंतःकरण सात्त्विक है तो श्रद्धा भी सात्त्विक होती है। इस प्रकार जैसी मनुष्यों की श्रद्धा होती है वैसी ही उनकी भावना, निष्ठा या स्थिति होती है।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।

प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

सात्त्विक या दैवी संपत्तिवाले लोग देवों की पूजा-अर्चना करते हैं; राजसी संपत्तिवाले लोग यक्षों एवं राक्षसों की तथा तामसी संपत्तिवाले लोग भूत-प्रेतों की पूजा-अर्चना करते हैं।

अशात्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।

दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।

मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

जो लोग शात्र-विधि को त्यागकर कठोर तप में रुचि लेते हैं; जो दंभ, अहंकार, भोग, आसक्ति और मोह में कंठ तक डूबे रहते हैं; जो हठपूर्वक शरीर में रचे-बसे पंचतत्त्वों तथा अंतःकरण में बसे मुझ परमेश्वर को तप द्वारा कष्ट देते हैं-ऐसे अज्ञानी लोग आसुरी स्वभाव वाले होते हैं।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।

यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

भोजन की सबकी पसंद भी स्वभाव के अनुसार तीन प्रकार की होती है; वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन प्रकार के होते हैं। इनके मर्म को भी तुम जान लो।

आयु सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

आयु, बुद्धि, बल, स्वास्थ्य, सुख और प्रसन्नता को बढ़ानेवाले; शरीर को स्थायी शक्ति देनेवाले; हृदय को शक्तिशाली बनानेवाले, तैलीय एवं रस भरे भोज्य पदार्थ सतोगुणी लोगों को पसंद होते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।

आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

कड़वे, खट्टे, नमकीन, तेज मसालेदार, चिकनाई-रहित, जलन पैदा करनेवाले और गरम-गरम भोज्य पदार्थ रजोगुणी लोगों को पसंद होते हैं। ये भोज्य पदार्थ दुःख, चिंता और रोगों के जनक होते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

अधपका, सड़ा, सूखा, बदबूदार, बासी, जूठा तथा मांसयुक्त भोजन तमोगुणी लोगों को पसंद होता है।

अफलाकाक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।

यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

जो पुरुष यज्ञ को कर्तव्य-कर्म की तरह मानता है और फल की इच्छा के बिना संतुष्ट रहकर शात्र-विधि के अनुसार यज्ञ-अनुष्ठान करता है, वह सात्त्विक होता है।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।

इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

किंतु हे अर्जुन! जो यज्ञ-अनुष्ठान फल की कामना के साथ केवल दिखावे के लिए किया जाता है, वह यज्ञ राजस होता है।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।

श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥१३॥

शास्त्र-विधि, दान-दक्षिणा, मन्त्र-श्लोकों और श्रद्धा-आस्था के बिना किए जानेवाले यज्ञ तामस यज्ञ कहलाते हैं।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥१४॥

देवता, ब्राह्मण, अपने से बड़ों और संत-महात्माओं का पूजन करना; ब्रह्मचर्य, शरीर-शुद्धि, सरलता, त्याग तथा अहिंसा को शारीरिक तप कहते हैं।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।

स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥१५॥

मन को अच्छी, सत्य, प्रिय और भली लगनेवाली बात; धर्मग्रंथों का पठन-पाठन और भगवान् के भजन-कीर्तन को वाणी से होनेवाला तप कहते हैं।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।

भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥१६॥

मन की प्रसन्नता और शांति, भगवान् का चिंतन-मनन, मन पर नियंत्रण और भावों की पवित्रता—इस प्रकार जिस तप में मन का प्रमुख कार्य होता है, वह मन से होनेवाला तप या मानस तप कहलाता है।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्रिविधं नरैः।

अफलाकाक्षिभिर्युक्तै सात्त्विकं परिचक्षते॥१७॥

फल की इच्छा किए बिना और पूरी श्रद्धा से मनुष्यों द्वारा किए जानेवाले—शरीर, वाणी और मन के ये तीनों तप सात्त्विक तप कहलाते हैं।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।

क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमधुवम्॥१८॥

जो तप अपना बड़प्पन दिखाने, झूठा मान अर्जित करने और दिखावे के लिए किया जाता है, उसका फल अनिश्चित और अस्थायी होता है। ऐसे तप को राजस तप कहते हैं।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।

परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

जो तप मूर्खतापूर्वक संकल्प करके, स्वयं को कष्ट देकर या दूसरों को कष्ट देने के उद्देश्य से किया जाता है, उसे तामस तप कहते हैं।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

तप के बाद भगवान् दान के बारे में बताते हुए बोले—फल की इच्छा के बिना जरूरतमंद लोगों को कर्तव्य-भाव से दिया गया दान सात्त्विक दान कहलाता है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।

दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

लेकिन जो दान अनिच्छा से, दुखी होकर, उपकार जताने के लिए तथा फल की इच्छा के साथ दिया जाता है, उसे राजस दान कहते हैं।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।

असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

जो दान अपमानजनक ढंग से, आवश्यकता को देखे बिना और कुपात्र को दिया जाता है, उसे तामस दान कहते हैं।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणत्रिविधः स्मृतः ।

ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

ॐ, तत्, सत्—इन तीन नामों से जिस परब्रह्म परमात्मा के बारे में बताया गया है, उसी परब्रह्म परमात्मा ने सृष्टि के आरंभ में वेदों, ब्राह्मणों तथा यज्ञों की रचना की है।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।

प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

इसलिए वैदिक नियमों को माननेवाले संत-महात्मा—यज्ञ, दान और तप संबंधी अपनी सभी क्रियाएँ—शास्त्र-विधि से सदैव 'ॐ' का उच्चारण करके आरंभ करते हैं।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।

दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाक्षिभिः ॥२५॥

जो संत-महात्मा मोक्ष पाने के लिए फल की इच्छा के बिना यज्ञ, तप, दान आदि क्रियाएँ करते हैं और उन्हें जिस

परमेश्वर को अर्पित करते हैं, उन्हें 'तत्' कहा जाता है।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।

प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥२६॥

हे पार्थ! जो परमात्मा—सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार किसी भी रूप में हमेशा सृष्टि में मौजूद रहते हैं, उन्हें 'सत्' नाम से जाना जाता है। अर्थात् जिस परमेश्वर की सत्ता कभी समाप्त नहीं होती, वे 'सत्' होते हैं। श्रेष्ठ कर्मों के साथ भी इस शब्द को जोड़ा जाता है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।

कर्म चैव तदर्थाय सदित्येवाभिधीयते॥२७॥

यज्ञ, तप और दान की क्रियाओं में मौजूद भावों की निष्ठा को भी 'सत्' कहते हैं। और उस परब्रह्म परमात्मा को पाने के लिए किए जाने वाले कर्म को भी 'सत्' कहते हैं।

अश्रद्धया हुं दत्तं तपस्तप्तं कृं च यत्।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥२८॥

हे पार्थ! श्रद्धा के बिना किया जानेवाला हवन, दान, तप या कोई भी शुभ कर्म 'असत्' कहलाता है। वह न तो इस लोक में लाभदायक है, न मृत्यु के बाद परलोक में—अर्थात् ऐसे कर्म 'सत्' की श्रेणी में नहीं आते।

॥ श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सत्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥



मोक्षसंन्यासयोग

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।

त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

अर्जुन बोले—हे महाबाहो! हे अंतर्यामी! हे केशव! मैं संन्यास और त्याग की वास्तविकता को अलग-अलग जानना-समझना चाहता हूँ।

श्री भगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

श्री भगवान् बोले—हे अर्जुन! इस बारे में लोगों के अलग-अलग मत हैं। कुछ ज्ञानीजन इच्छायुक्त कर्मों के त्याग को संन्यास मानते हैं तो कुछ ज्ञानीजन सभी कर्मों के फल के त्याग को संन्यास या त्याग मानते हैं। कुछ ज्ञानीजन मानते हैं कि कर्मों से ही दोष उत्पन्न होते हैं, इसलिए उन्हें सभी कर्म छोड़ देने चाहिए तथा कुछ ज्ञानीजन यज्ञ-दान-तप आदि कर्मों को आवश्यक मानते हैं।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।

त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! संन्यास और त्याग में से पहले मैं तुम्हें त्याग के बारे में बताता हूँ। सात्त्विक, राजस और तामस भेदों के अनुसार त्याग तीन प्रकार के होते हैं।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

यज्ञ, दान और तप जैसे कार्यों को कभी नहीं छोड़ना चाहिए, बल्कि ये जरूरी कर्म हैं; क्योंकि ये तीनों ही कर्म ज्ञानीजन को निर्मल और पवित्र करते हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा फलानि च ।

कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

इसलिए हे पार्थ! मेरा स्पष्ट मत है कि यज्ञ, तप, दान एवं ऐसे ही अन्य सभी शुभ कर्मों को आसक्ति और बिना फल की इच्छा के अवश्य करना चाहिए।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।

मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

अनुचित और फल की इच्छा के साथ किए जानेवाले कर्मों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए; किंतु जरूरी और निर्धारित कर्मों का त्याग कभी नहीं करना चाहिए। यदि मूर्खतापूर्वक ऐसे कर्म छोड़ दिए जाएँ तो यह तामस त्याग कहलाता है।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।

स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

सभी कर्मों को दुःख का कारण समझकर अगर कोई व्यक्ति मेहनत से बचने के लिए कर्तव्य-कर्मों को त्याग देता है तो यह राजस त्याग कहलाता है। लेकिन इस त्याग का उसे कोई सुफल नहीं मिलता, क्योंकि कर्तव्य-कर्मों का त्याग नहीं किया जा सकता।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।

सङ्गत्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

हे अर्जुन! जो व्यक्ति जरूरी कर्मों को आसक्ति और फल की इच्छा के बिना कर्तव्य-कर्म मानकर करता है, उसे सात्त्विक त्याग कहते हैं।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।

त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

जो पुरुष अशुभ कर्मों का स्वेच्छा से त्याग करता है और शुभ कर्मों को आसक्तिरहित होकर करता है, वह पुरुष निस्देह ज्ञानी और अपने सच्चे स्वरूप में स्थित सच्चा त्यागी होता है।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

क्योंकि शरीरधारी मनुष्य सभी कर्मों का त्याग कदापि नहीं कर सकते, इसलिए जो कर्मफल की इच्छा का त्याग कर देता है, वही श्रेष्ठ त्यागी होता है।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।

भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

जो व्यक्ति कर्मफल की इच्छा को नहीं छोड़ता, उसे मरने के बाद भी इष्ट (अच्छा), अनिष्ट (बुरा) या मिश्रित (मिला-जुला)-इनमें से कोई-न-कोई फल अवश्य मिलता है; लेकिन जो कर्मफल की इच्छा को त्याग देता है, उसे किसी भी लोक में इसका फल नहीं भोगना पड़ता।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।

सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्ध्ये सर्वकर्मणाम्॥१३॥

हे महाबाहो! कर्मों के अंत के उपाय बतानेवाले सांख्य-शास्त्र में कर्मों की पूर्णता के लिए पाँच कारण बताए हैं, इन्हें अच्छी तरह समझ लो।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।

विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥१४॥

ये पाँच कारण हैं—अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टाएँ और दैव। शरीर और वह जगह जहाँ शरीर स्थित है, इन दोनों को ‘अधिष्ठान’ कहते हैं। सभी क्रियाएँ प्रकृति के द्वारा होती हैं। लेकिन जब मूर्खतावश प्राकृतिक क्रियाओं को कोई व्यक्ति अपनी मान लेता है तो ऐसा ‘कर्ता’ ही कर्मों की पूर्णता का माध्यम बनता है। हाथ, पैर, नाक, कान, मुँह, मन, बुद्धि आदि को ‘करण’ कहा जाता है। बोलना, चलना, सुनना, देखना, चखना, सूँघना आदि चेष्टाएँ हैं। दैव का अर्थ है—संस्कार। कर्मों के अनुसार ही मनुष्य के संस्कार होते हैं; शुभ कर्मों के अच्छे संस्कार और अशुभ कर्मों के बुरे संस्कार।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।

न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥१५॥

मन, वाणी और शरीर से मनुष्य—शुभ या अशुभ—जो भी कर्म करता है, उसमें ये पाँचों कारण उसके सहयोगी होते हैं। अर्थात् ये पाँचों कारण ही शुभ अथवा अशुभ कर्मों के कारण होते हैं।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।

पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥१६॥

ये कारण उपस्थित होने पर भी जो व्यक्ति शुभ अथवा अशुभ कर्मों के लिए जीवात्मा को ही कारण या कर्ता समझता है, वह सच से दूर, निरा मूर्ख और विवेकहीन होता है।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।

हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥१७॥

जो व्यक्ति स्वयं को कर्ता नहीं मानता तथा जो अपने सभी कर्म आसक्तिहीन और फल की इच्छा के बिना करता है, वह लोकों के सभी प्राणियों को मारकर भी वास्तव में न तो मारता है, न पापग्रस्त होता है; क्योंकि वह तो ‘अकर्ता’ है। ‘कर्ता’ (करनेवाला) तो कोई और ही है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।

करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

ज्ञान (जानना), ज्ञेय (जानने योग्य) और परिज्ञाता (जानकार)—ये तीनों कर्म-प्रेरणा के कारण हैं। अर्थात् इनसे कर्म में लगने की प्रेरणा मिलती है तथा करण, कर्ता एवं क्रिया से कर्म-संग्रह होता है—अर्थात् शुभ-अशुभ कर्म इकट्ठे होते हैं।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।

प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

गुणों की दृष्टि से शास्त्रों में ज्ञान, कर्म और कर्ता के तीन-तीन भेद कहे गए हैं। इन्हें भी तुम अच्छी तरह सुन लो।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।

अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

जिस ज्ञान को अर्जित करके मनुष्य—पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों, जलचरों—मनुष्यों आदि सभी प्राणियों में केवल एक अविनाशी परमात्मा को समभाव से मौजूद देखता है, वह सात्त्विक ज्ञान होता है।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्मृथग्विधान् ।

वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

लेकिन जिस ज्ञान से मनुष्य सभी प्राणियों में अलग-अलग ईश्वर को देखता है, वह राजस ज्ञान कहलाता है।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।

अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

लेकिन जिस ज्ञान द्वारा मनुष्य 'मैं ही ब्रह्म हूँ', इस भाव से जीवन और मृत्यु से बँधे शरीर को अपना स्वरूप मानता है और उसमें आसक्त रहता है तथा जो ज्ञान—विवेक-रहित, वास्तविकता से दूर और तुच्छ है, उसे तामस ज्ञान कहते हैं।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।

अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

जो कर्म शास्त्रों द्वारा निर्धारित हो, जिसमें कर्तापन का अहंकार न हो, जो फल की इच्छा के बिना और राग-द्वेष को त्यागकर किया गया हो, वह सात्त्विक कर्म है।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।

क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

परंतु जो कर्म सुख-साधनों की चाहत में अथवा घमंड दिखाने के लिए अतिरिक्त मेहनत लगाकर किए जाते हैं, वे राजस कर्म हैं।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।

मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥२५॥

तथा जो कर्म अज्ञानतापूर्वक आरंभ कर दिया जाता है, उसके परिणाम, हानि, हिंसा और क्षमता पर विचार नहीं किया जाता, उसे तामस कर्म कहते हैं।

मुक्तसङ्गाह्यऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।

सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥२६॥

जो कर्ता निर्धारित कर्मों को अनासक्त होकर करता है, जो अभिमान नहीं करता, विघ्न-बाधाओं में धैर्य और उत्साह नहीं खोता, जो कार्य की सफलता या असफलता से न तो दुखी होता है, न खुशी प्रकट करता है—अर्थात् हर स्थिति में निर्विकार रहता है : ऐसा ‘कर्ता’ सात्त्विक कर्ता कहलाता है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।

हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥२७॥

जो कर्ता कर्मफल की इच्छा के साथ आसक्त भाव से कर्म करने वाला, लालची, हिंसात्मक स्वभाववाला, अपवित्र तथा सफलता और विफलता के कारण सुख-दुख में डूबा रहनेवाला होता है, वह राजस कर्ता होता है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैष्कृतिकोऽलसः।

विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥२८॥

जो कर्ता लापरवाह, अशिक्षित, घमंडी, हठी, उपकारी का बुरा करनेवाला, आलसी, दुखी, अशांत तथा छोटे से काम को भी कल पर टालनेवाला है, उसे तामस कर्ता कहा जाता है।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतत्रिविधं शृणु।

प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥२९॥

हे धनञ्जय! सात्त्विक, राजस और तामस गुणों के अनुसार बुद्धि और धृति (धैर्य या धारण शक्ति) के भी तीन भेद होते हैं। तुम उनके बारे में भी समझ लो। मैं विस्तार से बताता हूँ।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।

बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥३०॥

हे पार्थ! जो बुद्धि—प्रवृत्ति (अर्थात् फल और आसक्ति को त्यागकर सांसारिक कर्मों को अकर्ता की तरह करना) और निवृत्ति (संसार से विरक्त होकर फल की इच्छा के बिना परमात्मा की भक्ति), करनेवाले कार्य और न

करनेवाले अकार्य, कर्मों के भय और अभय तथा बंधन और मुक्ति को ठीक-ठीक जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी कहलाती है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।

अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

हे पार्थ! जिस बुद्धि से मनुष्य धर्म और अधर्म तथा कार्य और अकार्य के बारे में भी ठीक प्रकार से नहीं जान सकता, वह राजसी बुद्धि है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।

सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

हे पृथानंदन! जो काली बुद्धि अधर्म को ही धर्म मान लेती है तथा शास्त्रों में बताई गई सभी बातों का उलटा अर्थ निकालकर चलती है, वह तामसी बुद्धि है।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।

योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

हे पार्थ! हर स्थिति में समान रहकर, केवल परमात्मा को ही अपना सबकुछ मानकर ऐसी धृति (धारण शक्ति) से जो मनुष्य मन, प्राण और इंद्रियों की क्रियाओं का संयमपूर्वक पालन करता है, वह धृति सात्त्विकी कहलाती है।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।

प्रसङ्गह्यन फलाकाक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

परंतु हे अर्जुन! फल पाने के लिए कर्म करनेवाला व्यक्ति जिस धृति से केवल कामनापूर्ति के लिए धर्म, अर्थ (धन) और काम (भोग) का उपभोग करता है, वह धृति राजसी होती है।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।

न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

हे पार्थ! दूषित बुद्धिवाला मूर्ख व्यक्ति जिस धृति से नींद, भय, चिंता, दुख, गर्व आदि जैसे विकारों को भी नहीं त्याग सकता, बल्कि उन्हें अपने व्यवहार की विशेषताएँ बनाए रखता है, उसकी ऐसी धृति तामसी कहलाती है।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।

अभ्यासाद्रमते यत्र दुखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।

तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

हे अर्जुन! अब तीन तरह के सुखों के बारे में सुनो। परमात्मा को पाने के लिए साधक को भजन-पूजन, चिंतन-मनन जैसे कठोर अभ्यास करने पड़ते हैं। शुरू में ये अभ्यास काँटों पर चलने जैसे विष भरे लगते हैं। लेकिन अंत में इनका फल अमृत के समान स्वादिष्ट और पवित्र होता है और साधक के सारे कष्ट मिट जाते हैं। इस प्रकार, परमात्मा की भक्ति से अंत में जो सुख मिलता है वह सात्त्विक कहलाता है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।

परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥३८॥

जो सुख इंद्रियों और विषयों के स्वाभाविक संयोग से उत्पन्न होता है तथा जो भोगकाल के आरंभ में तो अमृत के समान प्रिय लगता है, परंतु परिणाम में विष के समान अप्रिय होता है, उसे राजस सुख कहते हैं।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।

निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥३९॥

नींद, आलस्य और प्रमाद से पैदा होनेवाला सुख आरंभ से अंत तक भ्रमित करनेवाला है। इसे तामस सुख कहते हैं।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।

सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥४०॥

पृथ्वी, स्वर्ग और देवताओं सहित पूरी सृष्टि में ऐसा कोई तत्त्व नहीं है, जो प्रकृति के इन तीन गुणों से रिक्त हो।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥४१॥

हे अर्जुन! कर्मों के अनुसार मनुष्य के संस्कार पड़ते हैं और संस्कार के अनुसार स्वभाव बनता है। स्वभाव के अनुसार मनुष्य में सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण आते हैं। इन गुणों के अनुसार ही लोगों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में बाँटा गया है।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥४२॥

मन व इंद्रियों पर नियंत्रण, कष्टों में भी धर्म-पालन न छोड़ना, शरीर और मन की पवित्रता, क्षमाभाव, करुणा, शात्र-ज्ञान, यज्ञ-हवन-व्रत-अनुष्ठान करना, ईश्वर में श्रद्धाभाव—ये सब ब्राह्मण के प्राकृतिक या स्वाभाविक गुण हैं।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।

दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥४३॥

शूरवीरता, तेजस्विता, धीरज, चतुराई, युद्ध में पीठ न दिखाना, दानशीलता, शासक-भाव—ये सब क्षत्रिय के प्राकृतिक गुण हैं।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥४४॥

खेती-बाड़ी, पशु-पालन, व्यापार तथा तीनों वर्णों की सेवा—ये सब शूद्रों के स्वाभाविक कर्म हैं।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥४५॥

जो मनुष्य निस्स्वार्थ भाव से अपने-अपने स्वाभाविक कर्मों में लगे रहते हैं, वे परमात्मा के धाम में स्थान पाते हैं। हे अर्जुन! अपने कर्मों में लगे मनुष्यों को परमात्मा कैसे मिलते हैं, मैं उसकी विधि बताता हूँ।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥४६॥

जिस परमात्मा ने संसार की रचना की है, सभी जीवों को पैदा किया है और जो चराचर जगत् का आधार है, उस परमात्मा को पाने के लिए इतना ही काफी है कि मनुष्य निस्स्वार्थ भाव से अपने स्वाभाविक कर्मों को करता रहे—अर्थात् कर्म-पालन ही ईश्वर को पाने की आराधना है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥४७॥

दूसरे के धर्म का पालन चाहे जितनी सावधानी से किया जाए, उसमें पाप लगने की आशंका बनी रहती है, इसलिए अपना धर्म यदि गुणहीन हो तो भी उसका पालन उत्तम होता है; क्योंकि वह मनुष्य के स्वभाव में शामिल होता है, इसलिए अपने धर्म रूपी कर्म का पालन करते हुए मनुष्य को कभी पाप नहीं लगता है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥४८॥

इसलिए हे कुंतीनन्दन! अपने स्वाभाविक कर्म में दोष हो तो भी उसको नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि जैसे आग में धुएँ की मिलावट है वैसे ही सभी कर्मों में कोई-न-कोई खोट होती ही है।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥४९॥

जो सब जगह पूरी तरह आसक्ति-रहित बुद्धिवाला है, जिसने अपने मन, शरीर और कामनाओं पर नियंत्रण कर लिया है, वह संत-महात्मा सांख्ययोग या संन्यासयोग की शिक्षा पर चलकर अपने कर्मों से पूरी तरह अलग हो जाता

है-अर्थात् उसके कर्म अकर्म हो जाते हैं, कर्म करते हुए भी वह उनमें लिप्त नहीं है। इससे उसे जो सिद्धि मिलती है, उसे 'नैष्कर्म्य सिद्धि' कहते हैं।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।

समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥५०॥

हे कौन्तेय! ब्रह्म को पाना ज्ञान पाने की सर्वोच्च सीढ़ी है; शुद्ध अंतःकरणवाला सिद्ध साधक उन्हें कैसे प्राप्त कर सकता है, इसके बारे में मैं तुम्हें सार रूप में बताता हूँ।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।

शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥५१॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥५२॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।

विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥५३॥

सतोगुणी बुद्धिवाला, सांसारिकता से दूर, एकांतप्रिय, हलका और संयमित भोजन करनेवाला; इंद्रियों को मर्यादा में रखकर शरीर, मन और वाणी पर नियंत्रण रखनेवाला; मौनव्रती; मोह और वैर को छोड़कर ईश्वर का श्रद्धापूर्वक ध्यान करनेवाला; जिसने अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोध और सुख-साधन की सभी चीजों का त्याग कर दिया हो; जो अपने शरीर और इंद्रियों के मोह से छूट गया हो और राग-द्वेषों को छोड़कर शांत, सहज व सरल हो गया हो —ऐसे गुणोंवाला साधक परब्रह्म परमेश्वर को पाने का अधिकारी हो जाता है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काक्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥५४॥

जो साधक ब्रह्म का ही अंश बन जाता है, उसे फिर दुख, इच्छाएँ, कामनाएँ आदि परेशान नहीं करते; वह सब ओर से सुखी हो जाता है। ऐसा समदृष्टि साधक मेरी पराभक्ति अर्थात् सर्वोच्च भक्ति और सर्वोच्च प्रेम को पा लेता है। वह मुझमें समाकर मेरा ही अंग बन जाता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥५५॥

पराभक्ति के द्वारा साधक मेरे बारे में सबकुछ सच-सच जान लेता है और उस भक्ति की शक्ति से ही वह फौरन मुझे पाने का सुपात्र होकर मुझमें समा जाता है-अर्थात् जीव और परमात्मा का मिलन हो जाता है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्भ्यपाश्रयः।

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

मेरी शरण में आनेवाला भक्त, जो स्वाभाविक रूप से अपने सभी कर्मों को करता है, मैं उस पर कृपा अवश्य करता हूँ। वह जन्म-मृत्यु के बंधन से मुक्त होकर मेरे शाश्वत और अविनाशी परमधाम में स्थान पाता है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

इसलिए हे अर्जुन! तुम मन से अपने सभी कर्म मुझे अर्पित कर मेरा ध्यान करते हुए मुझमें लीन हो जाओ। इसी में तुम्हारा कल्याण है।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।

अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनक्ष्यसि ॥५८॥

मुझमें लीन होकर मेरी कृपा से तुम सभी बाधाओं से उबर जाओगे और यदि अहंकारवश तुम मेरी बात को अनसुना कर दोगे तो तुम्हारा पतन हो जाएगा। अर्थात् तुम जन्म-मरण के चक्कर में उलझे रहोगे।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।

मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

अहंकारवश अगर तुम युद्ध से भागोगे तो झूठे साबित होगे, क्योंकि तुम्हारा तो स्वभाव ही असत्य का सामना करना है। अतः तुम्हारे लिए यह युद्ध जरूरी है।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।

कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

हे कुंतीनंदन! मोहवश तुम जिस युद्ध से बचना चाहते हो, तुम्हारे स्वाभाविक क्षत्रिण गुण तुम्हें उसके लिए विवश कर देंगे और तुम यह युद्ध अवश्य करोगे।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भामयन्सर्वभूतानि यत्रारूढानि मायया ॥६१॥

हे अर्जुन! परमेश्वर सभी जीवों के मन में बसते हैं और अपनी माया-शक्ति से शरीर रूपी यंत्र पर सवार होकर सभी प्राणियों से उनके कर्मों के अनुसार कार्य करवाते रहते हैं।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

हे भरतवंशी अर्जुन! तुम स्वयं को पूरी तरह उन परमेश्वर को अर्पण कर दो, जो सबको मोक्ष देते हैं। उनकी कृपा

से तुम संसार के सभी कष्टों से छुटकारा पाकर परम शांति और प्रभु धाम में परमपद पाओगे, इसमें जरा भी संदेह नहीं करो।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।

विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

तुम्हें सुपात्र समझकर मैंने यह अति गुप्त ज्ञान की बात बताई है। तुम इसका चिंतन-मनन करो और फिर इच्छानुसार कर्म करो।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

तुम मेरे प्यारे सखा हो, इसलिए तुम्हारी भलाई की एक और अति गोपनीय और श्रेष्ठ बात तुम्हें बताता हूँ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

अर्जुन! तुम मुझे बहुत प्रिय हो, इसलिए मैं वचन देता हूँ कि मेरी भक्ति, चिंतन-मनन-स्मरण, पूजन और नमन करके तुम सहज ही मुझे पा लोगे।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

चिंता छोड़ो अर्जुन! क्या करना है और क्या नहीं, यह विचार छोड़कर तुम केवल मेरी शरण में आ जाओ। मैं तुम्हारे सारे पाप क्षमा कर दूँगा। अर्थात् तुम अगर अपने भाई-बंधुओं को भी मारोगे तो भी तुम्हें पाप नहीं लगेगा।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।

न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

अर्जुन! यह अति गोपनीय उपदेश है। इसे तुम्हें असहनशील पुरुष को, जिसे मुझ भगवान् पर भरोसा न हो, जिसे इसको सुनने में रुचि न हो और जो मेरे प्रति दुर्भावना रखता हो—उन्हें कभी नहीं बताना चाहिए।

य इदं परमं गुं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।

भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

जो भक्त सर्वस्व भाव से स्वयं को मेरे अर्पण करके इस अति गुप्त उपदेश—गीताशास्त्र—को मुझमें भरोसा रखनेवाले भक्तों को सुनाएगा, वह निस्देह मृत्यु के बाद मेरे परमधाम में स्थान पाएगा।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।

भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

मनुष्यों में वह भक्त मुझे सबसे प्रिय होगा जो जन-कल्याण के लिए मेरे प्रिय उपदेश को मेरे भक्तों तक पहुँचाएगा। और भविष्य में भूलोक पर मुझे उससे प्यारा कोई नहीं होगा।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयो ।

ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

जो-जो लोग हमारे इस धर्मपूर्ण संवाद गीताशास्त्र का चिंतन-मनन, श्रवण-अध्ययन और पठन-पाठन करेंगे, वे भी इस ज्ञानयज्ञ द्वारा मेरी पूजा करके सुफल पाएँगे।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।

सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

जो लोग दोषरहित होकर श्रद्धा, भक्ति और प्रेम के साथ इस अमृत-उपदेश (गीताशास्त्र) को सुन भी लेंगे, वे भी पुण्य प्राप्त करेंगे और प्रतिफलस्वरूप दिव्य लोकों में स्थान पाएँगे।

कच्चिदेतच्छुं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।

कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥७२॥

हे पृथानंदन! क्या इस उपदेश को तुमने ध्यान देकर सुना है? हे धनञ्जय! अज्ञान से जनमा तुम्हारा पारिवारिक मोह नष्ट हुआ कि नहीं?

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अर्जुन बोले—हे प्रभु! आपकी कृपा से मेरे सारे संदेह, मोह एवं विकार नष्ट हो गए हैं और मेरी विवेक-बुद्धि जाग्रत् हो गई है। अब मैं आपकी हर आज्ञा का पालन करने के लिए तैयार हूँ।

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।

संवादमिममश्रौषमद्भुं रोमहर्षणम् ॥७४॥

संजय बोले—इस प्रकार, मैंने भगवान् श्रीकृष्ण और कुंतीनंदन महात्मा अर्जुन का यह रोमांचक, गोपनीय और अद्भुत कल्याणकारी धर्म-वार्तालाप सुना।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।

योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

व्यासजी की कृपा से दिव्य दृष्टि पाकर इस अति गुप्त योग को मैंने साक्षात् भगवान् वासुदेव के श्रीमुख से सुनने का सौभाग्य पाया है।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।

केशवार्जुनयो पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

हे राजन् (धृतराष्ट्र)! भगवान् वासुदेव और अर्जुन के इस परम कल्याणकारी और रोमांचक वार्त्तालाप को याद करके मैं बार-बार प्रसन्न और रोमांचित हो रहा हूँ।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुं हरे ।

विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण के उस अद्भुत और विस्मयकारी विराट् रूप का दर्शन भी अति रोमांचक था। वह दृश्य भी मुझे बार-बार याद आ रहा है।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।

तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्धुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

महाराज! मेरा विश्वास है कि जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण और धनुर्धारी अर्जुन साथ-साथ हैं वहाँ लक्ष्मी, विजयश्री, वैभव और संपत्ति का वास अवश्यंभावी है।

॥ मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवाँ अध्याय समाप्त ॥

